ॐ

साधक-शङ्का-समाधान

द्वितीय भाग

[शास्त्रवचनसहित साधक-उपयोगी शङ्का-समाधान]

:०:

लेखक

शङ्करानन्द सरस्वती

परमार्थ निकेतन, पो० स्वर्गाश्रम २४९३०४
(ऋषिकेश) पौढ़ो-गढ़वाल

प्राप्ति-स्थान
परमार्थ निकेतन
पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)
जनपद—पौढ़ी-गढ़वाल
पिन—२४९३०४

पुनः प्रकाशन-अधिकार सभी को

मूल्य – ७ रुपये

सूचना—डाक से पुस्तक मँगानेवाले
मूल्यसहित रजिस्ट्री-खर्च पहले भेजें।

प्रथम बार—तीन हजार
संवत्—२०४७

मुद्रक
जीवन शिक्षा मुद्रणालय (प्रा०) लि०
गोलघर, वाराणसी-२२१००१

प्राक्-कथन

एक साथ उत्पन्न दो सन्तानों में एक जन्म से ही रोगी होता है, दूसरा नीरोगी होता है। इसमें माता के खान-पान या पिता के वीर्य में विषमता आदि दृष्ट कारणों को दिखाना संभव न होने से अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तर में किये शुभ-अशुभ कर्मरूप धर्माऽधर्म को ही कारणबाध्य होकर मानना पड़ता है। जन्म के बाद भी समान रूप से लालन-पालन-भोजन-शिक्षा आदि की व्यवस्था रहते हुए भी एक का हृष्ट-पुष्ट होना, दूसरे का कृश-निर्बल होना, एक का बुद्धिमान् होना, दूसरे का अबुद्धिमान् होना भी अदृष्टकारणरूप धर्माऽधर्म को सिद्ध करता है।

गुप्तरूप से किये गये होने के कारण जिन शुभ-अशुभ कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिला उनका फल भोगने के लिये भी जन्मान्तर को मानना ही होगा। जन्मान्तर की घटनाओं को बतानेवाले बालकों का समाचार अखबार में आता ही रहता है। ये समाचार जन्मान्तर को स्वीकार करना अनिवार्य सिद्ध कर देते हैं। जन्मान्तर में प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख, रुग्णता-अरुग्णता आदि में कारण इस जन्म के किये गये शुभ-अशुभ कर्मरूप धर्म-अधर्म ही होते हैं।

इस प्रकार इस जन्म में प्राप्त विषम भोगरूप कार्य के कारणरूप में जन्मान्तरकृत धर्माऽधर्म को स्वीकार करना जैसे अनिवार्य है,

वैसे ही इस जन्म में किये धर्म-अधर्म के फलभोग के लिये जन्मान्तर को स्वीकार करना भी अनिवार्य है। इस जन्म में या जन्मान्तर में उचित फलभोग की व्यवस्था अल्पज्ञ-असमर्थ मानव से संभव न होने के कारण सर्वज्ञ-सर्वसमर्थ ईश्वर को स्वीकार करना भी अनिवार्य है। धर्म-अधर्म, जन्मान्तर, फलभोग करनेवाला देह से पृथक् आत्मा, फलदाता ईश्वर, इन सबकी सिद्धि नेत्र आदि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तथा नेत्र आदि का सहारा लेकर चलनेवाले भौतिक विज्ञान द्वारा भी नहीं हो सकती। इसका एकमात्र कारण यह है कि इनसे भौतिक पदार्थ ही जाने जा सकते हैं। अतः अभौतिक होने से धर्म-अधर्म आदि की सिद्धि इनसे नहीं हो सकती। इसीलिये इनकी सिद्धि अनादि अपौरुषेय वेदों से तथा वेदानुसारी मनुस्मृति आदि शास्त्रों से ही होती है। ऐसा गंभीर विचारशील ऋषियों ने स्वीकार किया है। इसे विस्तार से समझने के लिये मेरी 'वैदिक-चर्या-विज्ञान' की भूमिका पढ़नी चाहिये।

धर्माऽधर्म आदि की सिद्धि वैदिक शास्त्रों से ही होती है, इस बात पर जिनका पूर्ण विश्वास है वे आस्तिक भी जब शास्त्रों का पूर्वापर अनुसन्धानपूर्वक मनोयोग से अध्ययन करते हैं, तो उन्हें शास्त्रों में एक ही विषय पर विविध प्रकार के वचन मिलते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु परस्परविरुद्ध वचन भी उन्हें मिलते हैं। तब उनके हृदय में शङ्काओं का उत्थान होना तथा समाधान की अभिलाषा का होना अनिवार्य है। शास्त्रों के ऐसे अनेक विवादास्पद विषयों में से साधक-उपयोगी कुछ विषयों पर शङ्का-समाधान

शास्त्रवचन के आधार पर छोटे-छोटे लेखों के रूप में लिखे गये। कुछ आवश्यक शङ्का-समाधान शास्त्रवचन के बिना भी लिखे गये। उन लेखों में कुछ लेख परमार्थपत्रिका तथा कल्याणपत्रिका में प्रकाशित भी हुए। उन प्रकाशित-अप्रकाशित लेखों को ही **'साधक-शङ्का-समाधान'** नाम के ग्रन्थरूप में संवत् २०४१ में प्रकाशित किया गया था। आशा करता हूँ कि उस ग्रन्थ के अध्ययन से साधकों की शङ्काओं का समाधान अवश्य हुआ होगा। इतना ही नहीं, किन्तु जिन साधकों ने मननपूर्वक अध्ययन किया होगा, उन्हें शास्त्रों के विविध तथा विरुद्ध वचनों की सङ्गति कैसे लगायी जाती है, इसका भी कुछ ज्ञान हुआ होगा। जिन शास्त्रवचनों को आधार बनाकर शङ्का-समाधान किया गया था उन शास्त्रों का जिन्होंने अध्ययन किया है, उन्हें तो विशेष लाभ तथा सन्तोष हुआ होगा।

गतवर्ष भी साधक-उपयोगी कुछ शङ्का-समाधान शास्त्रवचन-सहित लिखे गये। उन्हीं लेखों को **'साधक-शंका-समाधान'** द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। साधकों को चाहिये कि प्रथम पूरी विषय-सूची पढ़ लें। उनमें से जो लेख उनकी शङ्का से सम्बद्ध हों, उन्हें प्रथम पढ़ें, बाद में दूसरे लेख पढ़ें। ग्रन्थ लेखों का संग्रहरूप होने के कारण लेखों में क्रम-सङ्गति या पुनरुक्ति आदि दोषों को देखने का प्रयास न करें।

इस ग्रन्थ में रामायण-भागवत-महाभारत-गीता तथा विष्णु-पुराण के वचनों के आगे स्थल-निर्देश गीताप्रेस से प्रकाशित ग्रन्थों

के अनुसार किया गया है। श्री कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली टीकायुक्त ग्रन्थ के अनुसार मनुस्मृति के श्लोकों के आगे स्थल-निर्देश किया गया है। प्रायः पुराणों तथा अत्रि-वसिष्ठ आदि स्मृतियों के आगे स्थलनिर्देश वेङ्कटेश्वर प्रेस से प्रकाशित ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। भिन्न-भिन्न काल में तथा भिन्न-भिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पुराण-स्मृति आदि ग्रन्थों में मन्त्र-संख्या तथा अध्याय-संख्या में भी अन्तर पाया जाता है। अतः कहीं सन्देह होने पर आगे-पीछे भी देख लेना चाहिये। जिन शास्त्रों के सामने केवल ग्रन्थ का नाम ही दिया है, संख्या नहीं लिखी, वे वचन वीरमित्रोदय-पराशरमाधव आदि निबन्ध-ग्रन्थों से लिये गये हैं। वे वचन वर्तमान में प्राप्त उन ग्रन्थों में कुछ मिलते हैं और कुछ नहीं भी मिलते। इससे वर्तमान के ग्रन्थ अपूर्ण हैं, ऐसा अनुमान होता है। जिन शास्त्रवचनों के आगे अनेक स्थलों का उल्लेख किया है, वे वचन उन स्थलों में ज्यों के त्यों अक्षरशः या उनके समान रूप में हैं, ऐसा समझना चाहिये।

धार्मिक पत्रिकावाले इस ग्रन्थ में से जो लेख अच्छा लगे प्रकाशित कर सकते हैं। लेख में से जो चाहें निकाल तो सकते हैं, परन्तु अपनी तरफ से कुछ भी मिलाने का कष्ट न करें, क्योंकि मैं अपने ही शब्दों का उत्तरदायी हो सकता हूँ, अन्य के शब्दों का नहीं।

'सर्वदर्शन-समन्वय', **'साधन-विचार'**, **'वैदिकचर्या-विज्ञान'** ये तीन ग्रन्थ मेरे द्वारा लिखित-प्रकाशित हो चुके हैं। इनका संक्षिप्त

परिचय इस ग्रन्थ के अन्त में दिया गया है। इन पूर्व-प्रकाशनों की तरह इस ग्रन्थ के मुद्रण कराने का भार भी श्री राधेश्याम खेमका तथा श्री काशीनाथ मेहरोत्रा ने निष्काम सेवाभाव से किया है। उदारचेता धनदाताओं के सहयोग से ही ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। अक्षर-शुद्धि-निरीक्षक श्री नरहरि पुरुषोत्तम रंगप्पा ने ग्रन्थ के शुद्ध प्रकाशन में बहुत परिश्रम किया है, अतः हम इन सबके आभारी हैं।

विषय-सूची

साधक-शङ्का-समाधान

ॐ

श्री गणेशाय नमः

मङ्गलाचरणम्

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः ॥

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥

नान्या स्पृहा रघुपते ! हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव ! निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ।।

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वरः
त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ।।

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ।।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।।

ॐ

कर्मफल प्रायः जन्मान्तर में क्यों ?

प्राचीन काल में ही नहीं किन्तु वर्तमान काल में भी अनेकों धर्मात्मा दुःखी तथा अधर्मात्मा सुखी देखने में आते हैं। महात्माओं से इसका कारण पूछने पर वे यही कहते हैं कि जन्मान्तर में ही प्रायः कर्मफल प्राप्त होता है। इसलिये जन्मान्तर में किये अधर्म का फल इस जन्म में भोगने के कारण अनेकों धर्मात्मा दुःखी रहते हैं। इस जन्म में जो वे धर्म कर रहे हैं, उसका फल-सुख उन्हें जन्मान्तर में अवश्य प्राप्त होगा। इसी प्रकार जन्मान्तर में किये धर्म का फल इस जन्म में भोगने के कारण अनेकों अधर्मात्मा सुखी रहते हैं। इस जन्म में जो वे अधर्म कर रहे हैं, उसका फल-दुःख उन्हें जन्मान्तर में अवश्य प्राप्त होगा। इस रहस्य को जो जानता है वही आजीवन दुःखी रहकर भी धर्म-मार्ग पर चलता है और अधर्म-मार्ग से दूर रहता है। अपने कथन को प्रमाणित करने के लिये वे महात्मा नीचे लिखे शास्त्र-वचन भी देते हैं—

इह जन्मकृतं कर्म परजन्मनि पच्यते ।
परजन्मकृतं कर्म भोक्तव्यं तु सदा नरैः ।।

(भविष्यपु० ३।२।२४।३६)

अर्थ—इस जन्म में किये कर्म (का फल) दूसरे जन्म में

मिलता है और दूसरे जन्म में किये कर्म (का फल इस जन्म में) सदा भोगना पड़ता है।

इसलिये—'पुण्य का आचरण करते हुए पुरुष को यदि दुःख प्राप्त हो तो सन्ताप नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह दुःख पूर्वदेह में किये कर्म का फल है।' इस रहस्य को जाननेवाले बुद्धिमान् मनुष्य अपने कर्म से उत्पन्न दुर्गम आपत्ति को प्राप्त करके जलते नहीं तथा धर्म की निन्दा भी नहीं करते। तप मानकर उसे सहन करते हैं—

पुण्यमाचरतः पुंसो यदि दुःखं प्रजायते ।
तदा तापो न कर्तव्यः तत्कर्म पूर्वदेहजम् ॥

(पद्मपु० ६।१३१।११४-११५)

दुर्गमामापदां प्राप्य निजकर्मसमुद्भवाम् ।
न हि सञ्ज्वरन्ति मर्त्या धर्मनिन्दां न कुर्वते ॥
इदमेव तपो मत्वा क्षिपन्ति सुविचेतसः ॥

(स्कन्दपु० ५।३।१९८।३८-३९)

कुछ लोग जन्मान्तर के धर्म-अधर्म का फल सुख-दुःख है, इसे नहीं मानते। अनेक धर्मात्माओं को दुःखी और अनेक अधर्मात्माओं को सुखी देखकर धर्म से दुःख और अधर्म से सुख होता है, ऐसा मानते हैं। ऐसा उनका मानना महामूर्खता ही है। क्योंकि यदि अधर्म से सुख होता तो सभी अधर्मात्माओं को सुखी होना चाहिये, परन्तु ऐसा है नहीं, अधर्मात्मा भी दुःखी देखे जाते हैं। एवं यदि

धर्म से दुःख होता तो सभी धर्मात्माओं को दुःखी होना चाहिये, परन्तु ऐसा है नहीं, धर्मात्मा भी सुखी देखे जाते हैं। अतः इस जन्म के धर्म-अधर्म को सुख-दुःख का कारण नहीं माना जा सकता।

शङ्का—महात्माओं का उक्त उत्तर शास्त्र तथा युक्तिसम्मत होने से सर्वथा सत्य तथा सम्माननीय ही है। फिर भी मुझे यह शङ्का होती है कि 'कर्मफल प्रायः जन्मान्तर में ही क्यों मिलता है ?' इस शङ्का का समुचित समाधान प्रदान करने की कृपा करें।

समाधान—प्रथम तो यह जान लेना चाहिये कि सामान्य कर्मों का ही फल प्रायः जन्मान्तर में प्राप्त होता है। अति उग्र पाप-पुण्यरूप विशेष कर्मों का फल इस जन्म में भी प्राप्त हो जाता है—'**अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते**' ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट कहा है। अति उग्र कर्म का फल इसी जन्म में प्रत्यक्ष अनुभव करने के कारण ही परोक्ष जन्मान्तर में भी कर्म का फल होता है, ऐसी आस्था लोगों को होती है।

सामान्य कर्मों का फल प्रायः जन्मान्तर में ही क्यों प्राप्त होता है ? इस शङ्का का सम्यक् समाधान प्रदान तो कर्मपरिपाकज्ञाता-कर्मफलदाता-सर्वज्ञविधाता के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। क्योंकि धर्माधर्मरूप कर्म की गति अतिसूक्ष्म दुर्विज्ञेय है। अचिन्त्य-शक्तिवाले हरि की कृति (करनी) में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। कर्म, कर्म की शक्ति, भूत, भूतों की भावनायें सभी विचित्र हैं। ऐसा पद्मपुराण में कहा है।—

धर्मस्य गतयः सूक्ष्मा दुर्ज्ञेया ह्यीश्वरैरपि ।
मुह्यन्ते चात्र विद्वांसोऽचिन्त्यशक्तिहरेः कृतौ ॥
विचित्राणि च कर्माणि विचित्रा भूतभावनाः ।
विचित्राणि च भूतानि विचित्राः कर्मशक्तयः ॥

(पद्मपु०, पातालखण्ड ८७।४-५)

तथापि संतों के सङ्ग एवं सद्ग्रन्थों के अध्ययन से जैसा कुछ मुझे समझ में आया है, उसके अनुसार आपकी शङ्का का समाधान प्रदान कर रहा हूँ—

कर्म कारण है, फल कार्य है । कारण और कार्य समानकाल में हो ही नहीं सकते, इसलिये कर्म का फल कालान्तर में ही होगा, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है । किस कर्म का फल कितने काल के बाद होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कर्म और उसके परिपाक में सहयोगी देश, काल, भावना आदि के तारतम्य से एक क्षण, एक दिन, एक वर्ष एक जन्म, अनेक जन्म के बाद होगा, यही कहना होगा ।

यदि इस जन्म में किये कर्मों का फल इसी जन्म में होने लगे तो प्रारब्धकर्म को कब भोगा जायगा ? इस जन्म के सभी कर्मों का फल इसी जन्म में हो जाय तो प्रारब्धकर्म का निर्माण किससे होगा ? प्रारब्धकर्म के बिना जन्म से ही रुग्णता-अरुग्णता, पशु-पक्षी शरीर की प्राप्ति-अप्राप्ति आदि जगत्-वैचित्र्य की सङ्गति कैसे होगी ? इस जन्म में किये कर्मों का फल कुछ क्षण बाद या इसी जन्म में निश्चित रूप से मिलने लगे तो मनुष्य स्वयं ही अच्छे कर्मों

में प्रवृत्त और बुरे कर्मों से निवृत्त हो जाय । ऐसी दशा में शास्त्र-उपदेश की क्या आवश्यकता होगी ? इन बातों की समुचित सङ्गति तभी होगी जब इस जन्म में किये कर्मों का फल प्रायः जन्मान्तर में हो ।

अलौकिक कर्मरूप बीज कालादि सहयोगी सामग्री के कारण भिन्न-भिन्न काल में फल प्रदान करें, इसमें तो आश्चर्य ही क्या ? ज्वार-बाजरा, मूँग-उड़द, अरहर आदि लौकिक बीज भी कालादि सहयोगी सामग्री के कारण भिन्न-भिन्न काल में फल प्रदान करते हैं । देखिये—ज्वार-बाजरा, मूँग-उड़द, अरहर को आषाढ़ के महीने में एक साथ ही बोते हैं । इनमें से ज्वार-बाजरा तीन महीने बाद, मूँग-उड़द चार महीने बाद और अरहर आठ महीने बाद फल प्रदान करते हैं ।

आशा करता हूँ, ऊपर लिखी बातों का दो-चार बार ध्यान से पठन-मनन करने पर आपकी शङ्का का समाधान अवश्य हो जायगा ।

ॐ

सात्त्विक जीवन कैसे बने ?

शङ्का—मैं चालीस वर्ष से भजन-ध्यान-सत्सङ्ग-स्वाध्याय में लगा रहता हूँ। साधु हो जाने के कारण पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, व्यावसायिक आदि समस्याओं तथा चिन्ताओं से रहित हूँ। प्रारब्धानुसार प्रभुकृपा से जीवननिर्वाहक वस्त्र-भोजन-औषधि आदि की प्राप्ति अनायास हो जाने के कारण मैं जीवनयापन की चिन्ता से भी मुक्त हूँ। ऐसा होने पर भी अभी तक भीतर और बाहर से पूर्ण सात्त्विक जीवन नहीं बना सका। इससे कभी-कभी निराशा तथा अश्रद्धा का भाव भी उदय होता है। मैंने सुना है कि आपने शास्त्रों का अध्ययन, मनन तथा परिशीलन बहुत किया है। अतः आपसे सविनय प्रार्थना करता हूँ कि शास्त्रप्रमाण के आधार पर विस्तार से यह बताने की कृपा करें कि सात्त्विक जीवन कैसे बने ?

समाधान—धर्मशास्त्ररूप मनुस्मृति आदि ग्रन्थों का निर्माण जीवन को सात्त्विक बनानेवाले साधनों का प्रधान रूप से विवेचन करने के लिये ही किया गया है। विस्तार से उन साधनों को जानने के लिये तो उन ग्रन्थों का विद्वानों द्वारा पठन करना चाहिये। कुछ मुख्य-मुख्य उपायों का संक्षेप से शास्त्रप्रमाणपूर्वक विवेचन लिख रहा हूँ। आशा करता हूँ कि ध्यानपूर्वक पठन-मनन तथा यथासंभव

आचरण करने पर निराशा तथा अश्रद्धा सर्वथा समाप्त हो जायगी।

१. सात्त्विकभाव से गर्भाधान—नारदपुराण तथा गरुड़पुराण में कहा है कि—'जिस भाव से योनि में वीर्य डाला जाता है, उस भाव से युक्त सन्तान होती है।'

यादृशेन हि भावेन योनौ शुक्रं समुत्सृजेत्।
तादृशेन हि भावेन सन्तानं संभवेदिति॥

(नारदपुराण २।२७।२९) (गरुड़पुराण २।२२।१८)

इस शास्त्रप्रमाण के आधार पर सात्त्विक जीवन के लिये सर्वप्रथम सात्त्विकभाव से गर्भाधान का होना अत्यावश्यक है। इसीलिये शास्त्रों में गर्भाधान-संस्कार का विधान है।

२. सात्त्विककाल में गर्भाधान—मनुस्मृति में कहा है कि 'अमावस्या, अष्टमी, पूर्णमासी, चतुर्दशी इन चार तिथियों में ऋतु-काल होने पर भी द्विज को ब्रह्मचारी रहना चाहिये। अतिकामातुर होने पर भी ऋतुदर्शन में प्रारम्भ के चार दिन स्त्री-सङ्ग न करे।'—

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥

(४।१२८)

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।

(४।४०)

इसके अतिरिक्त सूर्य-चन्द्रग्रहणकाल में, सन्ध्याकाल में और

दिन में गर्भाधान करने से असात्त्विक सन्तान होती है। इसलिये इन असात्त्विककालों को छोड़कर सात्त्विककाल में ही गर्भाधान करना चाहिये। ऐसा धर्मशास्त्रों में कहा है।

सात्त्विकभाव से सात्त्विककाल में धर्मपत्नी में ही गर्भाधान करना चाहिये। धर्मपत्नी वही होती है जो असपिंडा, असगोत्रा तथा सवर्णा हो और उत्तम ब्राह्म आदि विवाह की विधि से विवाही गयी हो। ऐसा ही मनुस्मृति अध्याय ३ के ५ तथा १२ श्लोक में कहा है।

३. **गर्भकाल में माता की सात्त्विक भावना**—जब गर्भ में सन्तान होती है, तब उस काल में माता जैसे भावों से भावित रहती है, जैसे विचार करती है, जैसा देखती, सुनती, पढ़ती, खाती-पीती है, उन सबका सन्तान पर प्रभाव पड़ता है। अतः गर्भवती माता को सात्त्विकभाव, विचार, श्रवण, दर्शन, पठन, खान-पान ही करना चाहिये। माता द्वारा गर्भकाल में सात्त्विक ज्ञान का नारद द्वारा श्रवण-मनन-विचार करने के कारण ही प्रह्लाद को बाल्या-वस्था में तत्त्वज्ञान हो गया था। ऐसा भागवत के सातवें स्कन्ध के सातवें अध्याय में स्वयं प्रह्लादजी ने दैत्य-बालकों के पूछने पर बताया है।

४. **सात्त्विक शिक्षा-दीक्षा**—सन्तान उत्पन्न होने के बाद माता-पिता तथा परिवार के सभी लोगों को सन्तान के सामने सात्त्विक-भाव-विचारयुक्त बातें तथा चेष्टायें करनी चाहिये। यह नहीं समझना चाहिये कि यह अभी अबोध है, इसलिये कुछ भी नहीं ग्रहण कर

सकेगा। बालक में कितनी अच्छी ग्रहणशक्ति होती है, इसे इसीसे समझ लो कि किसी भाषा का माध्यम न होने पर भी केवल शब्दों को सुन-सुनकर ही २-३ वर्ष में सन्तान मातृभाषा बोलने-समझने लग जाता है। बाल्यावस्था में कोई विरोधी भाव-विचार-संस्कार न होने से जो संस्कार डाले जाते हैं उनका गहरा प्रभाव पड़ता है, इसलिये संतान में सात्त्विक संस्कार ही पड़ें, इसको पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

५. **सात्त्विक खान-पान—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**

(छान्दोग्य उपनिषद् ७।२६।२)

इस श्रुतिमन्त्र में कहा है कि आहार शुद्ध होने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है। श्री शङ्कराचार्यजी ने आहार शब्द का 'इन्द्रियों द्वारा जिसका आहरण=ग्रहण किया जाय उसे आहार कहते हैं', ऐसा अर्थ करके सभी इन्द्रियों के द्वारा सात्त्विक विषय सेवन करने पर ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है, ऐसा प्रतिपादन किया है। सो सर्वथा ठीक ही है, क्योंकि मुख से सात्त्विक भोजन करनेवाले यदि आँखों से गन्दे चित्रयुक्त सिनेमा-टेलीविजन देखें, कानों से गन्दे शब्द सुनें, त्वचा से निषिद्ध पर-नर-नारी का स्पर्श करें, तो उनका अन्तः-करण शुद्ध नहीं हो सकता।

श्री रामानुजाचार्यजी ने आहार शब्द का अर्थ भोजन ही किया है। उसका कारण यह है कि उसी छान्दोग्य उपनिषद् में अन्न के सूक्ष्म अंश से मन बनता है, ऐसा कहा है—**'योऽणिष्ठस्तन्मनः'** (छा० ६।५।१)। इसीलिये वहीं अतिस्पष्ट शब्दों में यह भी कह

दिया कि हे सोम्य ! मन अन्नमय ही है—**'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः'** (छा० ६।५।४)। इसी श्रुति के आधार पर लोक-व्यवहार में भी कहा जाता है 'जैसा खाय अन्न। वैसा बने मन'। अतः सात्त्विक जीवन बनाने के लिये सात्त्विक भोजन ही करना चाहिये। इसके लिये नीचे लिखी बातें ध्यान रखने योग्य हैं।

न्यायपूर्वक कमाई का धन हो। इसके लिये मनुस्मृति में कहा है कि सभी पवित्रताओं में धन की पवित्रता मुख्य है—**'सर्वेषां शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्'** (मनु० ५।१०६)। विष्ठा (मल-टट्टी) आदि अपवित्र खाद से उत्पन्न किया गया अन्न, शाक न हो। प्याज-लहसुन-मांस-मदिरा आदि राजस-तामस पदार्थ न हों। मल-मूत्र के परमाणुओं से रहित पवित्र स्थान में भोजन बनाया तथा खाया जाय। बनाने, परोसने और खानेवालों का सात्त्विक भाव हो। काँसा, पीतल, सोना, चाँदी, मिट्टी आदि के बर्तन में ही बनाया-खाया जाय। स्टील, अलमोनियम, प्लास्टिक के बर्तन में न बनाया-खाया जाय। (इन सबका वैज्ञानिक विवेचन विस्तार से 'वैदिक-चर्या-विज्ञान' नाम के ग्रन्थ में 'भोजन-विज्ञान' प्रकरण में देखना चाहिये।)

मन को अत्यधिक प्रभावित करनेवाले अन्न को सात्त्विक बनानेवाली ऊपर लिखी बातों का पालन किये बिना, सात्त्विक जीवन बनाने की आशा करना वैसी ही दुराशा है, जैसी कुपथ्य-त्याग और सुपथ्य-सेवन बिना स्वस्थ होने की आशा करना। खेद का विषय है कि इस बात पर ध्यान वर्तमान के साधक नहीं देते।

६. सात्त्विक वातावरण—एक-सा खान-पान करनेवाले दो व्यक्तियों में एक व्यक्ति ऐसे वातावरण में रहता है, जहाँ अश्लील शब्द छाये रहते हैं। अश्लील चित्र सब ओर देखने में आते हैं। जुआरी, शराबी, घूसखोरी करनेवाले, व्यभिचारी लोग रहते हैं। ऐसे व्यक्ति का जीवन सात्त्विक नहीं बन पाता। इससे सिद्ध हो जाता है कि वातावरण का प्रभाव भी मानव पर पड़ता है। इसलिये जहाँ सात्त्विक शब्द, चित्र, व्यक्ति हों उस सात्त्विक वातावरण में रहना आवश्यक है।

७. सात्त्विक सङ्ग—एक-से वातावरण में रहनेवाले दो मानवों में से एक मानव काम से समय बचने पर जुआरी-शराबी-व्यभिचारी लोगों का सङ्ग एक घण्टा करता है। दूसरा एक घण्टा सन्तों का सङ्ग करता है। इनमें पहला सात्त्विक नहीं बन सकता, दूसरा ही बनेगा। इसीलिये कहा है शास्त्रों में—**'दुष्टसङ्गो सर्वथा त्याज्यः।'**

८. जन्मान्तरीय सात्त्विक संस्कार—एक ही माता-पिता से एक साथ उत्पन्न, एक-सी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त, एक समान खान-पान करनेवाले, एक समान वातावरण में रहनेवाले, एक जैसा सङ्ग करनेवाले, दो व्यक्तियों के समान जीवन नहीं बनते। इतना ही नहीं किन्तु सर्वथा विपरीत जीवन भी देखने, सुनने, पढ़ने में आते हैं। जैसे रावण और विभीषण के जीवन। ऐसे स्थलों में दृष्टकारण न बताया जा सकने के कारण फलबल से अदृष्टकारणरूप जन्मान्तरीय संस्कार को स्वीकार करना ही पड़ता है। गीता में कहा है कि

'वहाँ (अगले जन्म में) पूर्वजन्म की बुद्धि के संयोग को प्राप्त कर लेता है।'

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

(गीता ६।४३)

यह जन्मान्तरीय संस्कार सबसे अधिक प्रबल होता है। यह न चाहते हुए भी मनुष्य को खींच ले जाता है, ऐसा गीता में कहा है—

'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।'

(गीता ६।४४)

इस प्रकार शास्त्रप्रमाण के आधार पर सात्त्विक जीवन बनाने के कुछ मुख्य-मुख्य उपायों को यथामति लिखा गया है। इन पर ध्यान आपको अवश्य देना चाहिए।

शङ्का—इन उपायों में से १-२-३-४ और ८ अङ्क में लिखे उपायों में तो मैं कुछ कर ही नहीं सकता। ५-६-७ अङ्क में लिखे उपाय भी पूरे अपने हाथ में नहीं हैं, थोड़े ही अपने हाथ में हैं। ऐसी दशा में मेरा सात्त्विक जीवन कैसे बनेगा ?

समाधान—जितने उपाय अपने हाथ में हैं, उनका पालन तत्परता से कीजिये। इससे आपका अगला जन्म ऐसी जगह होगा, जहाँ अन्य उपाय अनायास ही प्राप्त हो जायँगे। गीता में कहा है कि 'उनका जन्म योगियों के कुल में होता है।'—

'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।'

(गीता ६।४२)

शङ्का—इस प्रकार तो सात्त्विक जीवन बनाकर सिद्धि प्राप्त करने में अनेक जन्म लगेंगे ?

समाधान—सिद्धि की प्राप्ति अनेक जन्म की साधना से ही होती है। देखिये, गीता में कहा है—

'अनेकजन्मसंसिद्धः'

(६।४५)

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'

(७।१९)

ध्रुव आदि को थोड़े काल में या एक जन्म में जो सिद्धि मिली थी, उसके पीछे भी अनेक जन्मों की साधना लगी हुई थी। ऐसा पुराणों में उनके पूर्वजन्मों के वर्णन को पढ़ने से सिद्ध होता है। अनेक जन्म में ही सिद्धि होती है, इस बात का स्पष्ट कथन करनेवाली कथा पद्मपुराण में इस प्रकार आती है—एक ब्राह्मण किसी ऋषि का शिष्य बना। ऋषि ने जो साधना बतायी, उसे करने से थोड़े काल में ही भगवान् ने उसे दर्शन दिया। यह बात उसने अपने गुरुजी से कही। गुरुजी ने कहा—'मुझे तो बहुत काल साधना करते बीत गया, तो भी मुझे भगवान् ने दर्शन नहीं दिया, तुम्हें थोड़े काल में ही कैसे दर्शन हो गया ?' शिष्य ने कहा—'कल भगवान् से पूछकर बताऊँगा।' पूछने पर भगवान् ने कहा कि 'हे पापरहित ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! तुमने बहुत जन्मों में परमभक्ति से मेरी पूजा की है, इसलिये मैंने तुम्हें दर्शन दिया है।'

बहुजन्मसु विप्रेन्द्र भक्त्या परया त्वया।
पूजितोऽहमतो दत्तं दर्शनं ते मयाऽनघ ॥

(पद्मपुराण ७।१७।२३६, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६६)

भागवत के इन श्लोकों में भी बहुत जन्म की बात कही है।— (३।२४।२८/३।२५।८/३।२७/२७/४।८।३१/४।९।३०)

ऊपर लिखे गीता तथा पद्मपुराण के वचनों से 'अनेक जन्म में ही सिद्धि होती है' इस सिद्धान्त को जो साधक जान लेते हैं, उन्हें कभी भी साधन में निराशा या अश्रद्धा नहीं होती। साधन में ढिलाई भी नहीं आती, क्योंकि वे जान लेते हैं कि साधन में ढिलाई करने से और अधिक जन्म लगेंगे।

ॐ

भक्तों पर संकट क्यों ?

शङ्का—त्रितापनाशकत्रिशूलधारी शिवजी, सुदर्शनचक्रधारी विष्णुजी तथा धनुर्धारी रामजी के रहते इनके भक्तों पर भी सङ्कट क्यों आते हैं ? इस शङ्का का समाधान शास्त्र, युक्ति तथा अनुभूति के आधार पर बताने की कृपा करें।

समाधान—जैसी शङ्का आपने की है, वैसी ही शङ्का स्कन्द-पुराण में उठाकर उसका समाधान जो वहाँ दिया गया है, उन श्लोकों को ही अर्थसहित उद्धृत कर रहा हूँ। इन्हें ध्यान से पठन-मनन करने पर शास्त्रसम्मत समाधान आपकी शङ्का का हो जायगा।

स्वभक्तांस्तान्न दुःखेभ्यः कस्माद् रक्षन्ति मानवान्।
विशेषात् केऽपि दृश्यन्ते दुःखमग्नाः सुरान् रताः ॥
शुचिर्वाऽभ्यर्चयेद् यश्च तस्य चेदशुभं भवेत्।
तस्य पूर्वकृतं कर्मणां व्यक्तं फलमुच्यते ॥
तस्मादवश्यं च कृतं भोज्यमेव नरैः सदा।
मुच्यते कोऽपि स्वकृतान्नैवेति श्रुतिनिर्णयः ॥

किन्तु दैवप्रसादेन लभ्यमेकं सुरव्रतैः ।
बहुभिर्जन्मभिर्भोज्यं भुज्यतैकेन जन्मना ।।
भोक्तव्यं स्वकृतं तस्मात् पूजनीयः सदा शिवः ।।

(स्कन्दपु० १।२।४६।७८-८२-८३-८६-८७-८८-९२,
वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९६६)

अर्थ—अपने भक्त मनुष्यों की दुःखों से रक्षा क्यों नहीं करते ? कुछ देव (भगवान्) रत भक्त भी विशेष दुःखमग्न देखे जाते हैं ?

जो पवित्र है, अर्चना करता है, उसका यदि अशुभ होता है तो उसके पूर्वकृत कर्मों का फल प्रकट हुआ है, ऐसा कहा जाता है। (परिपक्व) कर्मों को अवश्य ही मनुष्य को भोगना पड़ता है। अपने किये कर्म से कोई भी नहीं छूटता, ऐसा वेद का निर्णय है। किन्तु देव (भगवान्) की कृपा से देव (भगवान्) भक्त को एक लाभ होता है कि बहुत जन्मों में भोगने योग्य कर्मों को एक जन्म में ही भोग लेता है। इसलिये अपने किये कर्मों को भोगना चाहिये और सदा शिवजी का पूजन करना चाहिये।

शङ्का—भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं, इसलिये अपने भक्त के प्रारब्ध को भी नष्ट कर सकते हैं। प्रारब्धनाश करने में उन्हें क्या बाधा आती है ?

समाधान—'परिपक्व प्रबल प्रारब्ध का भोग करना ही होगा' ऐसा नियम भगवान् ने स्वयं बनाया है। स्वयं बनाये इस नियम के पालन में बाधा होने के कारण ही प्रबल प्रारब्ध का नाश सर्व-

समर्थ होते हुए भी भगवान् नहीं करते। इससे भगवान् में असमर्थता दोष की कल्पना नहीं करनी चाहिये। 'भावी मेटि सकहिं त्रिपुरारी' आदि वचनों द्वारा अप्रबल प्रारब्ध मेटने की ही बात शास्त्रों में कही गयी है। प्रबल प्रारब्ध के लिये तो योगवासिष्ठ के उपशम प्रकरण में ८९।२६ श्लोक में कहा है कि—सर्वज्ञ, बहुज्ञ, माधव, हर कोई भी प्रारब्ध (नियति) को बदलने में समर्थ नहीं—

सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि वा ।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि ।।

यदि मनुष्य द्वारा किये इस जन्म के शुभ-अशुभ अनुष्ठानों से प्रबल प्रारब्ध का भी नाश हो जाय तो उसे 'प्रबल प्रारब्ध' कैसे कहा जा सकेगा। प्रबल प्रारब्ध के नाश न होने का नियम भगवान् ने प्राणियों के हित के लिए ही बनाया है। इसी नियम के भय से मनुष्य शुभकर्म करता है और अशुभकर्म नहीं करता।

एक पुत्र ने अपने पिता की बीमारी को दूर करने के लिए प्रभु से प्रार्थना की, या मन्त्र का अनुष्ठान किया या दान दिया। इन कार्यों से पिता की बीमारी दूर हो गयी। अपने इस प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर दूसरी तीसरी चौथी बार भी प्रार्थना आदि से पिता की बीमारी को दूर कर दिया। यहाँ विचारणीय यह है कि जब-जब उसके पिता बीमार होंगे तब-तब प्रार्थना आदि से ठीक होते ही रहेंगे, कभी भी नहीं मरेंगे ? इस प्रश्न के उत्तर में सभी को यही कहना पड़ेगा कि एक दिन तो अवश्य ही मरेंगे। इस विचार से यह सिद्ध हुआ कि मृत्युदायक प्रबल प्रारब्ध से आनेवाली बीमारी

प्रार्थना आदि से भी नहीं नष्ट होती। जो बीमारी प्रार्थना आदि से नष्ट हुई है वह अप्रबल प्रारब्धजन्य थी। इस प्रकार युक्ति और अनुभूति से भी यही सिद्ध होता है कि प्रबल प्रारब्ध भोग का नाश किसी साधन से नहीं होता। शास्त्रों में भी कहा है कि कालमृत्यु का नाश जप होम दान मन्त्र औषधि आदि किसी साधन से नहीं होता—

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमो न पुनर्जपः।
त्रायन्ति मृत्युनोपेतं जरया वापि मानवम्॥

(विष्णुधर्मोत्तरपु० १।२३६।१०/२।७८।२५,
वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६९)

जपहोमप्रदानैश्च कालमृत्युर्न शाम्यति।

(भविष्यपु० ४।४।८५ वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६७)
(पद्मपु० २।६६।१२३, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८४)

इसी प्रकार कुछ लोग यह शङ्का किया करते हैं कि पुण्यकर्म करनेवालों को भी दुःख क्यों भोगने पड़ते हैं? उसका समाधान करते हुए शास्त्रों में कहा है कि—पुण्य का आचरण करनेवाले पुरुषों को यदि दुःख प्राप्त हों तो सन्ताप नहीं करना चाहिये, वह दुःख पूर्वदेह में किये कर्म का फल है। अपने (पूर्व) कर्मों से उत्पन्न अति-आपत्ति को प्राप्त करके मनुष्य जलते नहीं, धर्म की निन्दा नहीं करते। इसे सहन करना ही तप है, ऐसा समझकर बुद्धिमान् उसे सहन करते हैं।—

पुण्यमाचरतः पुंसो यदि दुःखं प्रजायते।
तदा तापो न कर्तव्यः तत्कर्मपूर्वदेहजम्॥

(पद्मपु० ६।१३१।११५, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८४)

दुर्गमामापदां प्राप्य निजकर्मसमुद्भवाम्॥
न हि सञ्ज्वरन्ति मर्त्या धर्मनिन्दां न कुर्वते॥
इदमेव तपो मत्वा क्षिपन्ति सुविचेतसः॥

(स्कन्दपु० ५।३।१९८।३८-३९, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६६)

भक्तों तथा धर्मात्माओं पर भी सङ्कट क्यों आते हैं इस शङ्का का समाधान शास्त्र, युक्ति तथा अनुभूति के आधार पर दिया गया कि 'अनिवार्य प्रबल प्रारब्ध का भोग कराने के लिये सङ्कट आते हैं।' अन्य कुछ विद्वान् अपने विचार के अनुसार निम्न प्रकार से भी उत्तर देते हैं।—

परीक्षा के लिये—भक्त तथा धर्मात्मा की परीक्षा सङ्कटकाल में ही होती है, अतः जो जितना बड़ा भक्त या धर्मात्मा होता है, उस पर उतना ही बड़ा सङ्कट डालकर उसकी परीक्षा ली जाती है।

प्रचार के लिये—सङ्कटरहित पूर्ण सुविधा की अवस्था में तो जनसाधारण भी प्रसन्न रहते हैं। भक्त तथा धर्मात्मा जब सङ्कट में भी भक्ति तथा धर्म से विचलित नहीं होते तब जनता उन्हें जानती है और यह मान लेती है कि अवश्य ही भक्ति तथा धर्म में ऐसी

शक्ति है जिससे सङ्कट भी उन्हें विचलित नहीं कर पाते। इस प्रकार भक्त-भक्ति तथा धर्म-धर्मात्माव्यक्ति का संसार में जैसा प्रचुर-प्रचार होता है वैसा प्रचार अन्य प्रकार से नहीं होता।

अनुग्रह के लिये—भक्त तथा धर्मात्मा पर जब सङ्कट आते हैं तो वह संसार को दुःखदायी समझता है। इससे उसके हृदय में संसार से वैराग्य और भक्ति तथा धर्म में अनुराग बढ़ता है।

ॐ

छोटे कर्म का बड़ा फल कैसे ?

शङ्का—पुराणों में वर्णन आता है कि एक व्यक्ति ने एक सेर सत्तू का दान किया तो एक लाख वर्ष स्वर्ग में निवास पाया। एक बार गङ्गा-स्नान किया तो एक हजार वर्ष राज्य पाया। एक बार मन्दिर की परिक्रमा की तो स्वर्ग गया। एक बार असत्य भाषण किया तो हजार वर्ष नरक में पचाया गया। एक बार चोरी की तो लाख वर्ष प्रेत बना। इस प्रकार छोटे-छोटे शुभ-अशुभ कर्मों का बड़ा-बड़ा फल वर्णन किया है। इसे पढ़कर शंका होती है कि इतने छोटे-छोटे कर्मों का इतना बड़ा फल कैसे हो सकता है? क्या यह वर्णन ज्यों का त्यों अक्षरशः सत्य है या इसका तात्पर्य कुछ और ही है। कृपया मेरी इस शंका का समाधान शास्त्र माण तथा युक्ति से प्रदान करें।

समाधान—पद्मपुराण तथा वाराहपुराण में ऐसी ही शंका उठाकर जो समाधान दिया गया है, अर्थसहित उन पुराण-वचनों को लिख रहा हूँ। सावधान होकर दो-चार बार मनोयोगपूर्वक उनका अध्ययन-मनन करने पर शास्त्रप्रमाण से आपकी शंका का समाधान हो जायगा।—

धर्मस्य गतयः सूक्ष्मा दुर्ज्ञेया ह्रीश्वरैरपि।
मुह्यन्ते चात्र विद्वांसोऽचिन्त्यशक्तिहरेः कृतौ॥

विचित्राणि च कर्माणि विचित्रा भूतभावनाः ।
विचित्राणि च भूतानि विचित्राः कर्मशक्तयः ॥
कदाचित् सुकृतं कर्म कूटस्थं यदवस्थितम् ।
केनचित् कर्मणा भूप शुभेन परिवर्धते ॥
फलं ददाति सुमहत् कस्मिन्नपि च जन्मनि ।
सूक्ष्मो धर्मोऽतिगहनो मीयते न यथा तथा ॥
नैतस्य फलदानस्य श्रूयते नृप निश्चयः ।
यत् किञ्चित् सुकृतं कर्मच्छन्नं पापान्तरैरपि ॥
तदागत्य कुतः क्वापि स्वं फलं हि प्रयच्छति ।
कृतस्य नेह नाशोऽस्ति पुण्यस्य दुरितस्य च ॥
इदं स्वल्पं महच्चैतदिति नैव नियामकम् ।
फलं यच्चोदितं शास्त्रे तदेव स्यान्महन्नृप ॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय ८७ तथा ९२,
वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८४)

अर्थ—(१) समर्थ पुरुषों द्वारा भी धर्म की गति जानना कठिन है। अचिन्त्यशक्तिवाले हरि की कृति में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। कर्म विचित्र हैं, भूतों (प्राणियों) की भावनायें (सात्त्विक-राजस-तामस-मिश्रित भेद से) विचित्र हैं। (पृथ्वीरूप भूत, प्रयागादि पवित्र तीर्थ और श्मशान आदि अपवित्र स्थान के

रूप में विचित्र है। जलरूप भूत, गङ्गादि पवित्र नदी और कर्मनाशा आदि अपवित्र नदी के रूप में विचित्र है। अग्निरूप भूत, पवित्र यज्ञाग्नि और अपवित्र चिताग्नि के रूप में विचित्र है। पवित्र भूमि और पवित्र जल से सम्बद्ध वायु तथा आकाशरूप भूत भी विचित्र हैं।) इस प्रकार भूत भी विचित्र हैं। (तत्काल या दीर्घकाल में, छोटा या बड़ा फल देने के रूप में) कर्म की शक्तियाँ विचित्र हैं।

(२) किया हुआ (छोटा) शुभ कर्म जो स्थिर (फल न देकर शान्त) रूप में अवस्थित है, हे राजन्! **कदाचित्** किसी शुभकर्म के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। वह किसी जन्म में महान् (बड़ा) फल देता है।

ध्यानाकर्षण—इस द्वितीय अंक में कही बात को ध्यान से पढ़ेंगे तो 'छोटे कर्म का बड़ा फल कैसे मिलता है ?' इस मुख्य शंका का समाधान शास्त्रप्रमाण से हो जायगा।

(३) धर्म अतिसूक्ष्म और अतिगहन है, (सर्वज्ञ ईश्वर को छोड़कर अन्य किसीके द्वारा) जैसा का तैसा जानने में नहीं आता। हे राजन्! इसके फल-दान का (अर्थात् कौन कर्म कब फल देगा यह) निश्चय सुनने में नहीं आता। छोटा-सा शुभकर्म दूसरे पापों से ढँका रहता है, वह कहाँ से आकर कहाँ अपना फल देता है (यह नहीं जाना जा सकता)। किये हुए पाप-पुण्य का नाश नहीं होता।

(४) यह कर्म छोटा है, यह कर्म बड़ा है, इस बात का निया-

मक (शास्त्र के अतिरिक्त और कोई) नहीं है। इसलिये हे राजन्! जो फल शास्त्र में कहा है, वही महान् है।

शृणु देवि! महाभागे पूर्वधर्मकृतो नरः।
केनचित् कर्मदोषेण तिर्यग्योनिमवाप्य हि॥
जन्मान्तरार्जितैः पुण्यैस्तीर्थस्नानजपादिभिः।
महादानैश्च लभ्येत तीर्थे पञ्चत्वमर्चकैः॥
जन्मान्तरकृतं कर्म यत्स्वल्पमपि वा बहु।
तत्कदाचित् फलत्येव न च तस्य परिक्षयः॥
कदाचित् वा सहायो वै पुण्यतीर्थादिदर्शनात्।
दुर्बलं प्रबलं भूत्वा प्रबलं दुर्बलं भवेत्॥
पापान्तरं समासाद्य गहना कर्मणो गतिः।
यदल्पमिव दृश्येत तन्महत्त्वाय कल्पते॥

(वाराहमहापुराण १३७।४३ से ४८, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८०)

अर्थ—(१) हे महाभागे देवि! सुनो, पूर्व (जन्म) में धर्म करनेवाला मनुष्य किसी (विशेष) कर्मदोष से पशु आदि तिर्यग् योनि को प्राप्त होता है। जन्मान्तर में किये तीर्थस्नान, जप, महादान, पूजन आदि पुण्यों द्वारा वह तीर्थ में मृत्यु को प्राप्त होता है। (इससे उसकी सद्गति हो जाती है।)

(**ध्यानाकर्षण**—इस प्रथम अंक में कही बात पर ध्यान देने से पुराणों की उन कथाओं की अक्षरशः सत्यता समझ में आ जायगी, जिन कथाओं में कहा है कि एक हिरण भय से अमुक तीर्थ

में घुस गया और वहीं मर गया। उस तीर्थ के प्रभाव से उसकी सद्गति हो गयी। पुराणों में ऐसे ही पूर्वजन्म के पुण्यात्माओं की सत्य कथाओं का तीर्थव्रत के माहात्म्यप्रसङ्ग में वर्णन किया है, अतः वे अक्षरशः सत्य हैं।)

(२) जन्मान्तर में किया गया कर्म अल्प हो या महान् हो, वह कभी न कभी फल देता ही है, उसका नाश नहीं होता। कभी पवित्र तीर्थादि के दर्शन से दुर्बल (पुण्य) प्रबल होकर प्रबल (पाप) दुर्बल हो जाता है। दूसरे पाप की सहायता प्राप्त करके जो (पाप) अल्प जैसा दीखता है, वह महान् हो जाता है। कर्म की गति अति गहन है।

(**ध्यानाकर्षण**—इस द्वितीय अंक में कही बात पर ध्यान देने से भी 'छोटा सा पाप-पुण्यरूप कर्म बड़ा फल कैसे देता है?' इस मुख्य शंका का सम्यक् समाधान शास्त्रप्रमाण से हो जायगा।)

युक्ति से भी इस शंका का समाधान हो जाता है। देखिये—एक बार धनी व्यक्ति के नौकर ने संकट सहकर मालिक का कार्य पूरा किया। दूसरी बार अपने प्राणों को संकट में डालकर मालिक के प्राणप्यारे एकलौते पुत्र के प्राणों की रक्षा की। इससे मालिक को बहुत प्रसन्नता हुई। उस समय कार्य में व्यस्त होने के कारण उसने कुछ नहीं दिया। एक बार मालिक ने जल पीने को माँगा, नौकर ने उठकर अति-आदर से जल दिया। इससे पूर्वकार्यजन्य प्रसन्नता के संस्कार उदय हो गये, जल पीकर एक लाख रुपया दे दिया। इसी प्रकार दूसरे नौकर द्वारा पूर्व में अनेकों बार गलत कार्य करने

पर मालिक को अप्रसन्नता हुई। कालान्तर में छोटा-सा गलत कार्य होने पर नाराज होकर बड़ा दण्ड दे दिया।

ऐसे कार्यों को देखकर पूर्व के रहस्य को न जाननेवालों को ही शंका होती है कि छोटे कर्म का बड़ा फल (दण्ड या पुरस्कार) मालिक ने क्यों दिया ? जो पूर्व के रहस्य को जानते हैं, उन्हें जरा भी शंका नहीं होती। इसी प्रकार पुराणों की कथाओं में भी उक्त रहस्य को जाननेवालों को जरा भी शंका नहीं होती, जिससे वे पुराणों को पूरी श्रद्धा से पढ़ते-सुनते हैं।

ऊपर लिखे 'पूर्वकर्म सहकाररूप रहस्य' के अतिरिक्त नीचे लिखे अनेकों कारणों से भी छोटा कर्म बड़ा फल देता है। देखिये **सामान्य परिस्थिति** में एक लोटा जल पिलाने जैसा छोटा कर्म जितना छोटा फल देता है, वही छोटा कर्म पानी की कमी होने पर **विशेष परिस्थिति में बड़ा** फल देता है। प्यास के कारण प्राण जा रहे हों ऐसे **काल** में जल पिलाने पर और बड़ा फल देता है। प्यास से मरणासन्न धार्मिक अरबपति धनी **व्यक्ति** को जल पिलाने पर परलोक में और अधिक बड़ा फल देता है, इस लोक में तत्काल लखपति, करोड़पति बना देता है। स्वयं भी प्यास से मर रहा हो और प्यास से मरते हुए किसी सदाचारी वेदज्ञ भगवद्भक्त ब्राह्मण-रूप **सुपात्र** को जल पिला देने पर बड़ा-से-बड़ा फल देता है। इसी प्रकार **अतिश्रद्धा, पवित्र प्रयागादि तीर्थ,** पवित्र पूर्णिमा आदि **काल** के संयोग से भी एक लोटा जल पिलाने जैसा छोटा कर्म बड़ा फल देता है।

यही कारण है कि मनु आदि स्मृतियों में कथित एक ही पाप-कर्म के छोटे-बड़े अनेक प्रायश्चित्तों की सङ्गति बताते हुए टीका-कारों ने कहा कि एक बार-अनेक बार, बुद्धिपूर्वक-अबुद्धिपूर्वक, सुपात्र-कुपात्र, पवित्रदेश-अपवित्रदेश, पवित्रकाल-अपवित्रकाल, आपत्तिकाल-अनापत्तिकाल, बाल्यावस्था-युवावस्था-वृद्धावस्था, नर-नारी, वेदज्ञ-अवेदज्ञ, सदाचारी-दुराचारी भेद से एक ही पापकर्म के छोटे-बड़े प्रायश्चित्त बताये गये हैं।

एक व्यक्ति ने किसीकी हत्या कर दी, न्यायाधीश ने आजीवन कठोर कारागार की सजा दी। वह व्यक्ति सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करता हुआ राष्ट्रपति से क्षमा की प्रार्थना करता है। राष्ट्रपति यदि उचित समझें तो उसे क्षमा कर सकता है। ऐसा वर्तमान राष्ट्र-संविधान को मान्य है। यहाँ विचारणीय यह है कि क्षमा-प्रार्थना जैसा छोटा-सा कर्म, आजीवन कठोर कारागार की सजा का अभावरूप बड़ा फल कैसे देता है ? युक्ति या भौतिक विज्ञान से इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यहाँ यही कहना होगा कि 'राष्ट्रीय संविधान' से ही ऐसा होता है।

इसी प्रकार सच्चे हृदय से पश्चात्तापपूर्वक की गयी ईश्वर से क्षमा-प्रार्थना आदि रूप छोटा कर्म, महानरक-यातना का अभाव-रूप बड़ा फल देता है। इसमें युक्ति या भौतिक विज्ञान कारण नहीं, एकमात्र शास्त्र-संविधान ही कारण है। इसीलिये पद्मपुराण के ऊपर लिखे अन्तिम श्लोक में कहा है कि—'यह कर्म छोटा है, यह कर्म बड़ा है, इस बात का नियामक शास्त्र के अतिरिक्त और

कोई नहीं। इसलिये जो फल शास्त्र में कहा है, वही बड़ा है।' वस्तुतः कर्मव्यवस्था में शास्त्र-संविधान ही प्रधान होता है। देखिये गीता १६।२४।

सारांश यह है कि पूर्वकर्म के सहकार से तथा देश-काल-पात्र-श्रद्धा आदि ऊपर कहे गये कारणों के सहयोग से और शास्त्र-संविधान से छोटा कर्म बड़ा फल देता है। इसी प्रकार बड़ा कर्म भी उक्त कारणों के असहयोग से छोटा फल देता है, समानन्याय से यह भी जानना चाहिये। इस बात का कथन ऊपर लिखे वाराह-पुराण के श्लोकों में **'प्रबलं दुर्बलं भवेत्'** अर्थात् प्रबल (बड़ा) दुर्बल (छोटा) हो जाता है, इन शब्दों में स्पष्ट किया है।

ॐ

अज्ञानी को कर्मफल मिलता है या नहीं ?

शङ्का—पाश्चात्य देशों में मद्यपान-मांसभक्षण को उचित माना जाता है। वहाँ के धर्मगुरु भी इसका समर्थन करते हैं। विवाहित या अविवाहित पर-नर-नारी के प्रेमपूर्वक मैथुन को वहाँ की सरकार ने संविधान बनाकर उचित माना है। अतः वहाँ के नर-नारी इन कार्यों को उचित मानकर करते हैं। इन कार्यों से वहाँ के नर-नारियों का लोक-परलोक में हित होगा या नहीं ?

समाधान—पाश्चात्य देशों में भी कुछ लोग अभी भी ऐसे हैं कि इन कार्यों को नहीं करते। इन लोगों की वहाँ के धर्मगुरु और सरकार निन्दा करती है या प्रशंसा करती है ? इस प्रश्न के उत्तर में मैंने तो यही सुना है कि प्रशंसा ही की जाती है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि इन कार्यों को करने की अपेक्षा इन्हें न करना ही श्रेष्ठ है, ऐसा वहाँ के धर्मगुरु और सरकार को भी स्वीकार है। ऐसी दशा में यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इन कार्यों को करनेवालों का परलोक में हित न होगा।

भारतवर्ष में भी बिक्रीकर, आयकर, घूसखोरी आदि निषिद्ध कार्य ७५ प्रतिशत लोग करने लगे, इसलिये लोगों की इनमें पापबुद्धि नहीं रही। सरकार द्वारा विधान बना देने से गर्भपात में भी पाप-बुद्धि नहीं रही। ऐसा होने पर भी इन्हें न करनेवालों की प्रशंसा की जाती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि इन्हें करना ठीक नहीं। अतः करनेवालों का परलोक में हित न होगा।

रही बात लोक में हित होने की। सो तो यह है कि मद्यपान से मानसिक विकार तथा मांसभक्षण से नाना प्रकार के रोगों की भरमार का अनुभव करके वहाँ के विचारशील इन्हें लोक के लिये अहितकर कह रहे हैं। इसी प्रकार नर-नारी के प्रेमपूर्वक मैथुन से खून की नाना जातियों की उत्पत्ति, सङ्गठित परिवार का नाश, नर-नारी में परस्पर बढ़ता हुआ अविश्वास, प्रेम का नाश, फलतः मानसिक असन्तुलन और आत्महत्याओं की वृद्धि हो रही है। इसे आँखों से प्रत्यक्ष देखकर वहाँ के ही समाज-विशेषज्ञ इसे लोक के लिये अहितकर कह रहे हैं। इसीलिये इन कार्यों को रोकने के लिये योजनायें बना रहे हैं।

शङ्का—आपका कथन ठीक है। फिर भी यह शङ्का होती है कि वहाँ की साधारण जनता तो धर्मगुरुओं के समर्थन तथा सरकारी संविधान के आधार पर इन कार्यों को अहितकर जानती ही नहीं, ऐसी दशा में इन कार्यों को करनेवाली अज्ञानी जनता को दोषी कैसे कहा जा सकता है? और उन्हें परलोक में अहितकर फल क्यों मिलेगा?

समाधान—राष्ट्रीय संविधान का पूर्ण ज्ञान न रखनेवाले किसी धर्मगुरु या वकील के समर्थन करने से या स्वयं संविधान न जानने के कारण कोई व्यक्ति यदि राष्ट्रीय संविधान के विरुद्ध अहितकर कार्य करता है, तो उस अज्ञानी को भी सरकार दोषी ही मानती है, और उसे दण्ड भी देती ही है। 'मुझे संविधान का ज्ञान नहीं था, मेरे धर्मगुरु और वकील ने भी समर्थन किया था, ऐसी दशा में मुझे दोषी मानना और दण्ड देना ठीक नहीं' ऐसा उस व्यक्ति के द्वारा कहने पर भी सरकार उसे दोषी मानकर दण्ड देती ही है। संविधान का ज्ञान न होने के कारण सरकार दया करके दण्ड कुछ कम दे सकती है, जरा भी दण्ड न दे, ऐसा नहीं करती। इसका मुख्य कारण यह है कि उस अज्ञानी को यदि जरा भी दण्ड न दिया जाय तो लोग संविधान जानने का प्रयास ही नहीं करेंगे और संविधान के विरुद्ध अहितकर कार्य करते रहेंगे। इससे राष्ट्र का महान् अहित होगा। सरकार यह चाहती है कि मेरे राज्य में रहनेवाले मानव राष्ट्र-हितकारी संविधान को जानें और उसका पालन करें। इसमें जरा भी छूट देने से तो संविधान का बनाना ही व्यर्थ हो जायगा।

इसी प्रकार ईश्वर भी यही चाहता है कि मेरी सृष्टि में रहनेवाले मानव मेरे हितकारी संविधान को जानें और उसका पालन करें। ईश्वरीय हितकारी संविधान को न जाननेवाले किसी धर्मगुरु या सरकार के समर्थन करने से या स्वयं संविधान न जानने के कारण कोई व्यक्ति यदि हितकारी ईश्वरीय संविधान के विरुद्ध कार्य करता है, तो ईश्वर भी उसे दोषी मानता ही है और परलोक में दण्ड देता ही है। ऐसा करना भी सर्वथा उचित ही है, नहीं तो मानव ईश्वरीय हितकारी संविधान को जानने का प्रयास ही नहीं करेंगे और अहितकर कार्य करते रहेंगे।

अज्ञान से उग्र पापकर्म करनेवालों को भी अल्पदण्ड होता है, ऐसा शास्त्र में भी कहा है—

भवत्यल्पफलं कर्म सेवितं नित्यमुल्बणम् ।
अबुद्धिपूर्वकं धर्मज्ञकृतमुग्रेण कर्मणा ।।

(शान्तिपर्व २९१।१६)

शङ्का—आपका कथन ठीक है। फिर भी यह शङ्का होती है कि ईश्वरीय हितकारी संविधान के विरुद्ध कार्यों का प्रचार जिन देशों में, परिवारों में हो गया है, उनमें उत्पन्न मानव का कल्याण कैसे होगा ?

समाधान—सत्य, दया, परोपकार, विश्वास आदि ईश्वरीय संविधान का प्रचार सभी देशों में सदा रहा है और रहेगा। इसका कारण यह है कि इनके बिना मानव का जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता। देखिये—ताँगा-रिक्शा पर बैठते हैं, तब बैठनेवाले व्यक्ति को यह विश्वास करना ही पड़ता है कि ताँगा-रिक्शावाला मुझे ठीक स्थान पर पहुँचा देगा। ताँगा-रिक्शावाले को भी यह विश्वास करना ही पड़ता है कि ये लोग मुझे पैसे दे ही देंगे। दोनों ही अपने कथन किये सत्य का पालन करते हैं। मैंने यह एक ही छोटा-सा उदाहरण दिया है, इसीके आधार पर सर्वत्र व्यवहार में विचार करके देखोगे तो आपको स्वयं दीख जायगा कि विश्वास सत्य, दया आदि के बिना मानव-जीवन का निर्वाह सर्वथा असंभव है। इन सत्य आदि ईश्वरीय संविधान का पूर्णतया पालन करने पर अन्तःकरण शुद्ध होने पर इसी जन्म में स्वयं ही ज्ञान हो जायगा कि मद्यपान-मांसभक्षण-परनर-नारीगमन अहितकर हैं। अथवा जन्मान्तर में ऐसे देश-परिवार में जन्म होगा, जहाँ ईश्वरीय हितकारी संविधान का

प्रचार है। इस प्रकार इस जन्म या जन्मान्तर में उनका कल्याण हो जायगा।

शङ्का—संसार में नाना प्रकार के धर्मग्रन्थ हैं, उनमें से किसे ईश्वरीय संविधान माना जाय, इसका निर्णय कैसे किया जाय ?

समाधान—संसार को यदि सादि माना जाय तो सबसे प्रथम उत्पन्न सृष्टि में प्राणियों में जन्म से ही रुग्णता-अरुग्णता, बुद्धिमत्ता-अबुद्धिमत्ता, दरिद्रता-अदरिद्रता आदि की विषमता का कोई हेतु नहीं बताया जा सकेगा। इससे जीवों को बिना किये कर्मों का भोग मानना पड़ेगा तथा ईश्वर में विषम सृष्टि करने के कारण वैषम्य-नैर्घृण्य दोष आयेगा। इन दोषों से बचने के लिये संसार को अनादि मानना ही होगा। अनादि संसार का व्यवस्थापक ईश्वर और उसका व्यवस्थानियमरूप ईश्वरीय संविधान भी अनादि ही होगा। ऐसी दशा में अनादि वेद को ही ईश्वरीय संविधान मानना चाहिये, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सादि धर्मग्रन्थों का प्रामाण्य उतने अंश में ही हो सकता है, जितने अंश में अनादि वेदरूप ईश्वरीय संविधान के अनुकूल हैं। वेदप्रति-कूल अंश में उनका प्रामाण्य नहीं माना जा सकता।

सारांश यह है कि ईश्वरीय संविधानरूप वेद के अनुसार आचरण करने पर ही मानव का कल्याण होगा। ईश्वरीय संवि-धान को पूर्णरूप से न जाननेवाले धर्मगुरु या सरकार के समर्थन पर या न जानने के कारण स्वयं उसके विरुद्ध कार्य करनेवाले अज्ञानी को भी कर्मफल अवश्य मिलेगा।

ॐ

प्रार्थना से लाभ-हानि

शंका—मैंने अपने जीवन में अनेकों बार अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिये प्रभु से प्रार्थना की है। उससे मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि बाह्य या आन्तरिक समस्या को दूर करने के लिये मेरी की गयी प्रार्थना से कभी तो तुरन्त लाभ हो जाता है, कभी देरी से लाभ होता है, कभी नहीं भी लाभ होता है। कभी-कभी तो हानि भी हो जाती है। ऐसा ही अनुभव दूसरों के लिये निष्कामभाव से प्रार्थना करने पर भी हुआ है। एक साधक ने तो यह प्रार्थना की कि—'हे प्रभो, मुझे संसार-सागर से उद्धार करानेवाले सद्गुरु की प्राप्ति कराओ' परन्तु उसे ऐसे असद्गुरु की प्राप्ति हुई कि जिसने उसे और अधिक संसार-सागर में गिरा दिया। इससे उस साधक के हृदय में ईश्वर तथा प्रार्थना पर श्रद्धा ही नहीं रही। ऐसा क्यों होता है? कृपा करके मेरी इन सभी शंकाओं का समाधान प्रदान करें।

समाधान—मानव के सामने बाह्य या आन्तरिक जो समस्यायें आती हैं, वे उसके पापकर्मों का ही फल होती हैं। बड़े पाप से बड़ी और छोटे पाप से छोटी समस्यायें आती हैं। उस बड़े-छोटे पाप का नाश हो सके इतना पुण्य जब प्रार्थना से उत्पन्न हो जाता है, तब समस्या दूर होती है। यही कारण है कि छोटी-बड़ी समस्या के

अनुसार भगवत्प्रार्थनारूप स्तोत्रपाठ, विष्णुसहस्रनामपाठ, मृत्युञ्जयजप आदि की न्यूनाधिक संख्या का विधान शास्त्रों में किया गया है। इसलिये कभी शीघ्र, कभी देरी से लाभ होता है। श्रद्धा, शुद्ध उच्चारण, विधि-विधान-पालन की तारतम्यता से भी कभी शीघ्र, कभी देरी से लाभ होता है।

अतिप्रबलप्रारब्ध का भोग कराने के लिये ही जो समस्या आती है, उसका नाश पूर्णश्रद्धा तथा विधि-विधान का पूरा पालन करने पर भी नहीं होता। इसका कारण यह है कि अतिप्रबलप्रारब्ध का नाश भोग बिना नहीं होता, ऐसा नियम भगवान् ने स्वयं बनाया है। इस नियम का अतिक्रमण भगवान् असमर्थ होने के कारण नहीं, किन्तु स्वकृत मर्यादा का संरक्षण करने के लिये नहीं करते। यही कारण है कि अतिप्रबलप्रारब्धभोगरूप काल-मृत्यु का नाश औषध, मन्त्र, होम, जप, दान आदि से भी नहीं होता, ऐसा शास्त्रों में कहा है—

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमो न पुनर्जपः।
त्रायन्ति मृत्युनोपेतं जरया वापि मानवम्॥

(विष्णुधर्मोत्तरपु० १।२३६।१०)
(,, २।७८।२५)

जपहोमप्रदानैश्च कालमृत्युर्न शाम्यति।

(भविष्यपु० ४।४।८५ / पद्मपु० २।६६।१२३)

इससे यह सिद्ध हुआ कि अतिप्रबलप्रारब्धभोग के लिये ही

आयी समस्या को दूर करने के लिये पूर्णश्रद्धा से की गयी प्रार्थना से भी कुछ भी लाभ नहीं होगा।

प्रार्थना, अनुष्ठान आदि से प्रतिकूल फल अर्थात् हानि होने में दो कारण होते हैं। सकामभाव से तथा देवताओं से की गयी प्रार्थना तथा अनुष्ठान में विधि-विधान का पालन न होने पर हानि हो जाती है। सकामभाव से भगवान् से प्रार्थना करने पर विपरीत फल मिलने में कारण होता है 'साधक का हित'। इसीलिये नारदजी ने सुरूप-प्राप्ति की प्रार्थना की, किन्तु उनका हित करने के लिये भगवान् ने कुरूप दिया—

मुनि हित कारन कृपानिधाना।
दीन्ह कुरूप न जाय बखाना॥

(रा० च० मा० १।१३२।७)

'संसार-सागर से उद्धार करानेवाले सद्गुरु की प्राप्ति कराओ' ऐसी प्रभु से प्रार्थना करने पर संसार-सागर में और अधिक गिरा देनेवाले असद्गुरु की प्राप्ति में अधिकतर तो प्रार्थी के हृदय में गुप्तरूप से विद्यमान मान-सम्मान, पद-पैसा-प्रतिष्ठा की वासना ही कारण होती है। इन दोषों से रहित साधक भक्त को यदि असद्गुरु की प्राप्ति हो जाय तो फलबल से **अगत्या** जन्मान्तरीय अतिप्रबल दुष्टकर्म को ही उसमें हेतु मानना चाहिये। उस दुष्टकर्म का फल-भोग पूरा होने पर इस जन्म में या जन्मान्तर में उसे सद्गुरु की प्राप्ति अवश्य ही हो जायगी। क्योंकि श्रद्धा-भक्तिपूर्वक की गयी भक्त की प्रार्थना समय पर अवश्य ही फल देगी।

यदि प्रार्थी की माँग भगवान् के विधान से विरुद्ध हो तो पूर्ण निष्कामभाव तथा पूर्ण श्रद्धाभक्ति से पर-उपकार के लिये की गयी प्रार्थना से भी लाभ नहीं होगा। देखिये—जिनकी भक्ति से परवश होकर भगवान् ने नृसिंहरूप धारण किया, ऐसे सिद्ध भक्त प्रह्लाद ने भगवान् से प्रार्थना की थी कि मैं 'इन दीन-हीन जीवों को छोड़कर अकेला मुक्त नहीं होना चाहता—**नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको'** (भाग० ७।९।४४)। इतना ही नहीं, किन्तु हरिवर्ष में रहकर प्रतिदिन प्रह्लादजी आज भी प्रार्थना करते हैं कि **'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य'** (भाग० ५।१८।९) अर्थात् 'विश्व का कल्याण हो'। रन्तिदेव ने भी प्रार्थना की थी कि—'मैं सबके हृदय के भीतर स्थित होकर कष्ट ही सहन करूँ, जिससे सभी जीव दुःखरहित हो जायँ।'—

'आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।' (भाग० ९।२१।१२)

आज भी महान् सन्त-महन्त एकान्त तथा समुदाय में भी प्रार्थना करते हैं कि

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्॥

परन्तु आज तक न तो सभी मुक्त हुए, न सुखी हुए, न निरामय हुए, न दुःखमुक्त हुए। इसका एकमात्र कारण यही है कि इन

सभी की प्रार्थना भगवान् के विधान के विरुद्ध होने के कारण ही सफल नहीं हुई।

इस प्रकार जो लोग प्रार्थना से शीघ्र या देरी से लाभ होने या लाभ न होने के तथा कभी हानि होने के कारणों को भलीभाँति समझ लेते हैं, उन्हें कभी भी प्रार्थना में अविश्वास या सन्देह नहीं होता।

शंका—आपने मेरी सभी शंकाओं का सम्यक् समाधान युक्ति तथा शास्त्रवचन से प्रदान किया, इससे मुझे बहुत सन्तोष हुआ। परन्तु एक नूतन शंका हो गयी कि जब प्रह्लाद जैसे भगवत्प्राप्त सिद्ध भक्त की प्रार्थना से भी सभी मुक्त या दुःखविमुक्त नहीं हो सकते तो प्राचीन तथा अर्वाचीन सन्त-महन्त एकान्त या समुदाय में भगवान् के संविधान के विरुद्ध प्रार्थना क्यों करते हैं? 'विश्व का कल्याण हो' ऐसे नारे क्यों लगवाते हैं?

समाधान—हृदय को उदार भावों से भरने के लिये ही ऐसी प्रार्थनायें की जाती हैं तथा नारे लगवाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इनका और कोई प्रयोजन नहीं होता।

ॐ

दान-भजन-सत्संगादि से क्या लाभ?

शंका—दान, गङ्गास्नान, तीर्थ, व्रत आदि महान् पुण्यकर्म करनेवाले भी आजीवन दुःखी देखने में आते हैं। दान, भजन आदि पुण्यकर्म न करनेवाले तथा नित्य पापकर्म करनेवाले भी मरणपर्यन्त सुखी देखने में आते हैं। ऐसी दशा में यह शङ्का होती है कि दानादि पुण्यकर्म से सुख और पापकर्म करने से दुःख होता है, शास्त्र की यह बात सत्य कैसे?

भजन-ध्यान करनेवाले भी कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे अतिकाम, क्रोध-मोहादि दोषों से ग्रस्त रहते हैं। इसके विपरीत भजन-ध्यान न करनेवाले भी कुछ लोग ऐसे होते हैं कि कामादि दोष से मुक्त रहते हैं। ऐसा देखकर यह कैसे कहा जा सकता है कि भजन-ध्यान से अन्तःकरण शुद्ध होकर कामादिविकार नष्ट हो जाते हैं?

आजीवन सत्सङ्ग करनेवालों में भी कुछ लोग ऐसे होते हैं कि दूसरों की सेवा कभी नहीं करते, सदा स्वार्थ की सिद्धि में लगे रहते हैं। इसके विरुद्ध कुछ लोग ऐसे भी देखने में आते हैं कि कभी भी सत्सङ्ग में नहीं जाते, फिर भी दूसरों की सेवा में अपना तन-मन-धन लगा देते हैं, स्वार्थरहित विवेकयुक्त होते हैं। ऐसी दशा में यह कैसे माना जा सकता है कि सत्सङ्ग करने से विवेकादि

गुणों का लाभ होता है ? वर्तमान में तो सत्सङ्ग करनेवाले ही नहीं किन्तु सत्सङ्ग करानेवाले भी अतिलोभ आदि दोषों से ग्रस्त देखे जाते हैं।

ऐसा भी देखने में आता है कि किसीका एक पुत्र माता-पिता की खूब सेवा करता है, इसलिये माता-पिता पुत्र से बहुत प्रसन्न रहते हैं। पुत्र के धनहीन होने के कारण स्वयं भी अन्न-वस्त्र के अभाव से दुःख पाते हैं। इसलिये प्रातःकाल पादवन्दना करते समय विनयी सुशील पुत्र को हृदय से आशीर्वाद देते हैं, फिर भी उस पुत्र को धन नहीं मिलता। उन्हीं माता-पिता का दूसरा पुत्र माता-पिता को कटुवचन सुनाता है, मूर्खतावश कभी मारपीट भी कर देता है, इसलिये माता-पिता उसे कभी भी आशीर्वाद नहीं देते। ऐसा होने पर भी उस पुत्र के पास धन-धान्य सदा विद्यमान रहता है। ऐसी दशा में यह कैसे माना जाय कि माता-पिता के आशीर्वाद से धन-धान्य की प्राप्ति होती है ?

कहाँ तक कहें, जिन-जिन कार्यों को शास्त्रकारों ने सुख का साधन बताया है, उनको जीवनपर्यन्त करनेवालों में कुछ लोग मरणपर्यन्त दुःखी देखने में आते हैं। इसके विरुद्ध जिन-जिन कार्यों को शास्त्रों में दुःख का कारण बताया है, उन कार्यों को आजीवन करनेवालों में भी कुछ लोग आजीवन सुखी देखने में आते हैं। ऐसी स्थिति में नास्तिकों को ही नहीं, आस्तिकों के हृदय में भी यह शङ्का होती है कि दान-भजन-सत्सङ्गादि से क्या लाभ ? कृपया इस शङ्का का सम्यक् समाधान बतायें।

समाधान—शास्त्रकथित दानादि अलौकिक कार्यों का फल कब होता है, इसे समझने के लिये पहले खेती आदि लौकिक कार्यों का फल कब होता है, इसे समझना आवश्यक है। देखिये—खेत में बोया गया गेहूँ उचित ऋतु, मर्यादित खाद, समयानुसार जलसेचन आदि सहयोगी सामग्री होने पर और पाला, ओला, कीड़ा आदि विरोधी सामग्री का अभाव होने पर कालान्तर में ४-५ महीने बाद खेती पकने पर ही देता है, तत्काल फल नहीं देता। इसके अतिरिक्त बीजों के स्वभाव-वैचित्र्य के कारण भी शीघ्र या विलम्ब से फल प्राप्त होता है। देखिये—ककड़ी-खीरा का बीज २ मास में, आम का बीज ८-१० वर्ष में और खिरनी का बीज २५-३० वर्ष में फल देता है। इस प्रकार सहयोगी तथा विरोधी सामग्री और बीजों के स्वभाव-वैचित्र्य को समझे बिना कोई व्यक्ति आम का बीज बोकर ४-६-१२ महीने तक प्रतीक्षा करने पर भी आमरूप फल खाने को न मिले तो यह कहने लग जाय कि 'आम का बीज बोने पर आम खाने को मिलते हैं' यह बात झूठी है, सत्य नहीं। उसके ऐसा कहने से बात झूठी नहीं हो जायगी, सत्य ही रहेगी।

इसी प्रकार दान-भजन-सत्सङ्गादि साधन भी सहयोगी सामग्री के होने पर और विरोधी सामग्री के न होने पर कालान्तर में इस जन्म में या प्रायः जन्मान्तर में परिपक्व होने पर ही फल देते हैं, तत्काल फल नहीं देते। बीजों की तरह दानादि कर्मों के स्वभाव में भी वैचित्र्य होता है, इसलिये कोई कर्म इसी जन्म में

और कोई कर्म १-२-१०-१०० जन्मों के बाद फल देता है। भविष्य-पुराण में स्पष्ट कहा है कि—'इस जन्म में किये कर्मका फल (प्रायः) अन्य जन्म में मिलता है।' जन्मान्तर में किये कर्म का फल ही (प्रायः) मनुष्यों द्वारा (इस जन्म में) भोगा जाता है ?–

इह जन्मकृतं कर्म परजन्मनि पच्यते ।
परजन्मकृतं कर्म भोक्तव्यं तु सदा नरैः ॥

(भविष्यपु० ३।२।२४।३६)

यही कारण है कि जिन्होंने जन्मान्तर में दान-भजन-सत्सङ्गादि शुभ कर्म किये हैं, वे शुभकर्म परिपक्व होकर जिस जन्म में फल देते हैं, उस जन्म में दान-भजन-सत्सङ्ग न करने पर भी वे लोग काम-क्रोध-लोभ आदि दोषों से रहित, विवेकी, परोपकारी धन-धान्यसम्पन्न आजीवन सुखी रहते हैं। इसी प्रकार जिन्होंने जन्मान्तर में प्रायः पापकर्म किये हैं, दान-भजन आदि शुभकर्म नहीं किये हैं, इस जन्म में ही सत्सङ्ग आदि शुभकर्म प्रारम्भ किये हैं, उन्हें इनका फल जन्मान्तर में परिपक्व होने पर अवश्य मिलेगा। इस जन्म में जो वे निर्धनी दुःखी हैं, वह तो जन्मान्तर में किये अशुभकर्मों का फल है।

इस रहस्य को जो लोग समझ लेते हैं, वही लोग मृत्युपर्यन्त दुःख-दारिद्रय से ग्रसित रहते हुए और इस जन्म में किये दान-भजन आदि का फल प्रत्यक्ष न मिलने पर भी भजन-ध्यानादि साधन में संलग्न रहते हैं। उन्हें कभी भी यह शङ्का नहीं होती

कि दान-भजन-सत्सङ्गादि से क्या लाभ ? यह शङ्का तो ऊपर लिखे रहस्य को न जाननेवालों के हृदय में ही होती है।

इसी प्रकार जो लोग पापकर्म करते हुए भी इस जन्म में सुखी हैं, वह सुख तो जन्मान्तर में किये उनके शुभकर्म का फल है। इस जन्म में जो पापकर्म कर रहे हैं, उनका फल दुःख तो उन्हें जन्मान्तर में अवश्य ही भोगना पड़ेगा। **इस रहस्य को जो लोग जान लेते हैं, वे लोग ही अत्यन्तएकान्त तथा अतिप्रलोभन और अति-संकट के समय भी पापकर्मों से बचे रहते हैं।**

अभी तक जन्मान्तर में फल देनेवाले अलौकिक दानादि कर्मों पर विचार किया गया। आगे इस जन्म में ही फल देनेवाले अलौकिक जप-दान-यज्ञादि अनुष्ठानरूप कर्मों पर विचार किया जाता है कि वे कर्म कभी शीघ्रफल देते हैं, कभी-कभी विलम्ब से फल देते हैं, कभी फल नहीं देते और कभी अधूरा, कभी विपरीत फल देते हैं। इन सबका क्या कारण है ?

इसी जन्म में फल देनेवाले पुत्रेष्टियज्ञ आदि अलौकिक कर्मों के बारे में विचार करने से पहले इसी जन्म में फल देनेवाले शिक्षा, चिकित्सा आदि लौकिक कर्मों के बारे में विचार कर लिया जाय तो अलौकिक कर्मों का विचार समझने में सुगमता होगी। देखिये—चिकित्सारूप कर्म की सफलता के लिये रोग का सम्यक् निदान, रोगभेद का ज्ञान, रोगनाशक औषधि का ज्ञान, शुद्ध शास्त्रविधान से निर्मित औषधि का सेवन, देश-काल-आयु-बल का ध्यान रखते हुए औषधि की मात्रा, कुपथ्य-त्याग, सुपथ्य-सेवन करना अतिआव-

श्यक है। इन सबका पालन करने पर ही चिकित्सा का फल होगा, न करने पर नहीं होगा, मनमाना करने पर विपरीत फल होगा।

इसी प्रकार पुत्रेष्टियज्ञ आदि अलौकिक कर्मों की सफलता के लिये पवित्र धन का होना, शास्त्रविधि को ठीक जाननेवाले सदाचारी ब्राह्मण द्वारा यज्ञ कराना, जप-स्तोत्र आदि के पाठ में शुद्ध उच्चारण करना, ऋषि-देवता-छन्द आदि का ज्ञान होना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, शुद्ध सात्त्विक हविष्यान्न का भोजन करना आदि नियम पालन करना अतिआवश्यक है, तभी पुत्रेष्टियज्ञादिसाधन से फल प्राप्त होगा। उक्त नियम पालन न करने पर फल नहीं होगा। मनमाना करने पर विपरीत फल होगा। वर्तमान में प्रायः इन नियमों का पालन न होने के कारण ही जपादि के अनुष्ठान फलप्रदान नहीं करते। अतः लौकिक-अलौकिक कर्मों के विधि-विधान का सम्यक् ज्ञान सम्पादन करके उनका अनुष्ठान करना ही बुद्धिमान् मानव का कर्तव्य है। इनके बिना सफलता प्राप्त न होने पर कर्मों पर अश्रद्धा करना या 'इनसे क्या लाभ' ऐसा कटाक्ष करना तो अबुद्धिमान् का ही काम है।

शंका—शास्त्रीय विधि-विधान का पूरा पालन करते हुए भी कभी-कभी अनुष्ठान फलप्रदान क्यों नहीं करते ?

समाधान—भगवान् ने स्वयं नियम बनाया है कि तीव्रतम अतिप्रबलप्रारब्ध का नाश भोग बिना नहीं होगा। ऐसा तीव्रतम अतिप्रबलप्रारब्ध जब उदय होकर बाधक होता है तब अलौकिक जपादि ही नहीं, किन्तु लौकिक चिकित्सा आदि साधन विधि-विधान-

पूर्वक अनुष्ठान करने पर भी फलप्रदान नहीं करते। ऐसे स्थलों के लिये शास्त्रों में अतिस्पष्ट शब्दों में कहा है कि—'(अन्तिम) जरावस्था अथवा मृत्यु से युक्त मानव की रक्षा औषधि, मन्त्र, होम, जप भी नहीं करते।'—

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमो न पुनर्जपः।
त्रायन्ति मृत्युनोपेतं जरया वापि मानवम् ॥

(विष्णुधर्मोत्तरपु० १२।३६।१०/२।७८।२५)

(पद्मपु० २।६६।१२३)

ऐसे अपवादस्थलों को छोड़कर चिकित्सा से लाभ होता ही है, इसलिये चिकित्सा आदि लौकिक साधनों पर जैसे सन्देह या अविश्वास करके त्यागना ठीक नहीं, वैसे ही अलौकिक जपादि साधनों पर सन्देह या अविश्वास करना ठीक नहीं।

ॐ

पूजा-ध्यान साकार का या निराकार का ?

शङ्का—एक सन्त का कहना है कि पूजा-ध्यान साकार का ही हो सकता है, निराकार का नहीं। भारतीय (आर्यसमाजी, कबीर, नानक, रामसनेही) अभारतीय (ईसाई, मुसलमान, पारसी) ये सभी ईश्वर को निराकार ही मानते हैं और पूजा-ध्यान भी करते हैं। इसलिए शङ्का होती है कि सन्त ने ऐसा क्यों कहा ? आप शास्त्र तथा युक्ति से इस शङ्का का समाधान प्रदान करें।

समाधान—इस विषय में नीचे लिखी साधकों के साथ हुई वार्ता का तथा शास्त्रवचनों का मनोयोग से पठन-मनन करने पर आपकी शङ्का का सम्यक् समाधान हो जायेगा, ऐसी मुझे आशा है, इसलिये संक्षेप में उसे ही लिख रहा हूँ।—

'एक साधक मुझसे आयु में बहुत बड़े थे। बीसों वर्षों से निराकार का ध्यान करते थे। एक दिन मैंने उनसे कहा कि वायु निराकार है, भौतिकतत्त्व है, इसका ध्यान करके बताइये। उन्होंने कहा कि देखो, यह मन्दिर की पताका वायु से हिल रही है, इसका ध्यान करने से निराकार वायु का ध्यान हो जायगा। मैंने कहा, पताका में लम्बाई-चौड़ाई होने से साकार है; अतः पताका का ध्यान करने से साकार पताका का ही ध्यान होगा, निराकार वायु का नहीं।

मेरी बात सुनकर थोड़ी देर चुप रहे। इतने में जोर से वायु चली, बवण्डर उठा। उसे देखकर कहने लगे कि देखो, यह तो वायु ही है, इस बवण्डर का ध्यान करने से निराकार वायु का ध्यान हो जायगा। मैंने कहा, बवण्डर में कूड़ा-करकट-धूल दीख रहा है, ये तो सब साकार ही हैं। इनके ध्यान से तो साकार बवण्डर का ही ध्यान होगा, निराकार वायु का नहीं। मेरी बात सुनकर चुप हो गये।

एक साधक ने कहा कि हम शान्त बैठकर नासिका में आने-जानेवाली प्राणवायु पर ध्यान रखते हैं। इस प्रकार निराकार प्राणवायु का ध्यान हो जाता है। मैंने कहा कि नासिका की त्वचा में आने-जानेवाले प्राणवायु का स्पर्श होता, उस स्पर्शगुण पर ही आप ध्यान रखते हैं, निराकार प्राणवायु पर ध्यान नहीं रखते। इसे स्पष्ट करने के लिये मैंने उनसे कहा कि आप अपनी नासिका में एक नली लगा लीजिये, नासिका से निकलकर प्राणवायु नली में होती हुई बाहर आयेगी, उस नली से निकलती हुई या बाहर निकली हुई प्राणवायु पर आप ध्यान रख सकते हैं क्या ? उन्होंने कहा, उस पर तो नहीं रख सकते। अन्त में मैंने इन दोनों साधकों से कहा कि **जब आप भौतिक निराकार वायु का ही ध्यान नहीं कर सकते तो अभौतिक निराकार ईश्वर का ध्यान कैसे कर सकते हैं ?** मेरी बात सुनकर दोनों साधक मौन हो गये।

एक (आर्यसमाजी) साधक ने कहा कि हम बहुत सुन्दर रूप में ॐ को लिखकर उसका ध्यान करते हुए निराकार ईश्वर का

ध्यान करते हैं। मैंने कहा कि लिखे हुए ॐ में लम्बाई-चौड़ाई होती है, आँखों से उसका आकार दीखता है, वह तो साकार है, अतः आप निराकार ईश्वर का नहीं, किन्तु साकार ॐ अक्षर का ध्यान करते हैं।

दूसरे ने कहा कि हम उच्चस्वर से ॐ का उच्चारण करते हैं, उसे सुनते हुए निराकार ईश्वर का ध्यान करते हैं। मैंने कहा, आप श्रवणइन्द्रियग्राह्य निराकार शब्द का ध्यान करते हैं, अतीन्द्रिय निराकार ईश्वर का ध्यान नहीं करते। मेरी बात सुनकर दोनों साधक चुप हो गये।

साधकों के साथ हुए उक्त वार्तालाप से यह सिद्ध हो जाता है कि निराकार का ध्यान नहीं हो सकता। ऐसी दशा में पत्र-पुष्पादि से पूजा तो किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती।

'हे प्रभु! आप परमदयालु हो, सर्वसमर्थ हो, करुणासागर हो' इस प्रकार निराकार भगवान् के गुणों का मन या वचन से गान ही निराकारवादी करते हैं, ध्यान नहीं कर सकते।

निराकार की पूजा तथा ध्यान संभव न होने के कारण ही ईश्वर को सिद्धान्ततः न माननेवाले जैनियों और बौद्धों ने भी अपने सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों को भगवान् के रूप में स्थानापन्न किया। उनकी मूर्तियाँ बनाकर ठीक सनातनधर्मियों की तरह पत्र-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य-घंटावादन आदि द्वारा पूजन प्रारम्भ किया। इसका मुख्य कारण यह है कि जनसाधारण का मन किसी आलम्बन के बिना साधन में संलग्न हो ही नहीं सकता। इसीलिये

पद्मपुराण में कहा है कि—'शून्य अर्थात् निराकार मार्ग में मनुष्य आधार के बिना कैसे चल सकता है।'—

शून्ये मार्गे कथं याति आधारेण विना नरः।

(पद्मपु० ६। ३१।१०३)

पद्मपुराण में वहीं पर यह भी कहा है कि—'साकार शून्य में अर्थात् निराकार में पूजा-भक्ति की बात अबुध-अज्ञानी कहते हैं। जो साकार है वही प्रभु निराकार भी है। साकार का दर्शन सुख-पूर्वक (सुगमता) से होता है, निराकार नहीं दीखता। सेवारस साकार है, निराकार विरस है। साकार के द्वारा निराकार स्वयं ही जाना जाता है।'—

पूजाभक्तिः शून्ये साकारे कथ्यतेऽबुधैः॥
साकारो यः स्वयं स्वामी निराकारः स वै प्रभुः॥
साकारो हि सुखेनैव निराकारो न दृश्यते॥
सेवारसश्च साकारो निराकारेण वैरसः॥
साकारेण निराकारो ज्ञायते स्वयमेव हि॥

(पद्मपु० ६।१३१।१०२ से १०५, वेंकटेश्वर प्रेस, संवत् १९८४)

ध्यान एक का या अनेक का?

शंका—पूजा-ध्यान श्री सीताराम, राधेश्याम, गौरीशंकर, लक्ष्मीनारायण, सूर्यनारायण, गणेशजी आदि सभी का करना चाहिये या एक का? कुछ लोग कहते हैं कि अनन्य भक्त को केवल अपने इष्टदेव की ही पूजा तथा ध्यान करना चाहिये, सबका नहीं।

समाधान—श्री सीताराम का अनन्य भक्त श्री सीताराम के बाल्य किशोर, वनवासीयुवा, राज्यपदारूढ़ प्रौढ़ावस्थावाले सभी रूपों की पूजा करता है। यद्यपि इन सबके आकार में महान् अन्तर होता है, तथापि ये सभी मेरे इष्टदेव श्री सीतारामजी ही हैं, ऐसी एकतारूप अनन्यभावना के कारण वह अपने को अनन्य भक्त ही मानता है तथा शास्त्र और सन्त भी उसे अनन्य भक्त ही कहते हैं। इसी प्रकार गौरीशंकर, सूर्यनारायण, गणेशजी भी मेरे इष्टदेव श्री सीतारामजी के ही रूप हैं, ऐसा शास्त्रप्रमाण के आधार पर मानकर जो श्री सीतारामजी का भक्त गौरीशङ्कर आदि सभी रूपों की पूजा करता है, वह भी श्री सीतारामजी का अनन्य भक्त ही है। तात्पर्य यह है कि रूपभेदमात्र से अनन्यता नष्ट नहीं होती, इष्टरूप में भेद मानने से ही अनन्यता नष्ट होती है। इसी आधार पर स्मार्त-सम्प्रदाय में पञ्चदेवों की उपासना की जाती है, क्योंकि एक भगवान् ही सूर्य, शक्ति, गणेश, शिव, विष्णु इन पाँच रूपों में क्रीड़ा के लिए नाटक के सूत्रधार की तरह प्रकट होते हैं—ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट कहा है।—

अहं विष्णुश्च शर्वश्च देवी विघ्नेश्वरस्तथा ।
एकोऽहं पञ्चधा जातो नाट्ये सूत्रधरो यथा ॥

(स्कन्दपु० २।४।३।१६, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९६६)

शैवाः सौराश्च गणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
मामेव प्राप्नुवन्ति हि वर्षापः सागरं यथा ॥

एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीडयन् नामभिः किल ॥

(पद्मपु० ६।८८।४३-४४, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८४)

मैं (सूर्य), विष्णु, शिव, देवी और विघ्नेश्वर गणेश इन पाँच रूपों में मैं ही नाटक में सूत्रधर की तरह प्रगट हुआ हूँ। शिव-सूर्य-गणेश-विष्णु-शक्ति के पूजक मेरे को ही प्राप्त होते हैं, जैसे वर्षा का जल सागर को प्राप्त होता है। एक मैं ही नामों द्वारा क्रीड़ा करता हुआ पाँच प्रकार से प्रगट हुआ हूँ।

जो वैष्णवविद्वान् कहते हैं कि शैव-शाक्त राजस-तामस पुराणों में ही शिवादि से विष्णु की एकता का कथन किया है, सात्त्विक पद्मादि पुराणों में नहीं किया गया, उन वैष्णवविद्वानों को ऊपर लिखे पद्मपुराण के वचन ध्यान से पढ़ने चाहिये। पुराणों में शिव-विष्णु आदि में भेद का भी प्रतिपादन किया है, उसका तात्पर्य अपने-अपने इष्टदेव में सुदृढ़ निष्ठा कराने में है। भेदप्रतिपादन में तात्पर्य मानने पर पुराणों में विरोध होगा, जिससे उनकी प्रामाणिकता नष्ट हो जायगी। इस बात को विशेष रूप से समझने के लिये मेरे द्वारा लिखे 'ब्रह्माविष्णुशिव भिन्न या अभिन्न' "अष्टादशपुराणों में त्रिदेवों की एकता" 'परात्पर ब्रह्मरूपा शक्ति' ये तीन लेख भी पढ़ने चाहिये।

ऊपर लिखे शास्त्रवचनों से पाँच देव एकरूप होने से एक का भक्त अन्यों की पूजा तो कर सकता है, परन्तु ध्यान तो एक अपने इष्टदेव का ही करना ज्यादा अच्छा होगा। इसका कारण यह है कि ध्यान में वृत्तियों को एकाकार होना चाहिये, ऐसा लक्षण ध्यान का योगसूत्र में किया है—

'तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्'

(योगसूत्र ३।२)

यदि राम का भक्त विष्णु आदि रूपों का भी ध्यान करेगा तो वृत्तियाँ एकाकार न होकर अनेकाकार हो जायँगी। इतना ही नहीं, यदि बालकरूप राम का भक्त रामजी के ही किशोर, वनवासी आदि रूपों का भी ध्यान करेगा अथवा बालकरूप राम के भी अनेक आकारवाले रूपों का ध्यान करेगा तो भी वृत्तियाँ एकाकार न होकर अनेकाकार हो जायँगी। इसलिये अपने इष्टदेव के भी एक रूप का ही ध्यान करना चाहिये, तभी योगसूत्र में ऊपर बताया ध्यान सम्पन्न होगा, अन्यथा नहीं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि राम के भक्त को विष्णु आदि के ध्यान का या राम के ही नाना रूपों के ध्यान का जो निषेध किया है, उसका तात्पर्य एकाकाररूप जो ध्यान का लक्षण है, उसे सुगमता से सम्पादन कराने के लिये ही किया है। अन्यरूपों का ध्यान करने से पाप होता हो, ऐसी कोई बात नहीं है। इसलिये जिन्हें अन्यरूपों का भी ध्यान करना प्रिय है, वे अन्य रूपों का भी ध्यान कर सकते हैं।

ध्यान की सामान्य विधि—जिसे अपने इष्टदेव का जो रूप बहुत प्रिय लगता हो, उसको अपने सामने रख लें। कुशासन या कम्बल आदि पवित्र आसन पर शान्त होकर बैठ जायँ, शरीर को भी हिलाये-डुलायें नहीं। आँखों से सामने रखे इष्टदेव के रूप को देखें, जब आँखें दुखने लगें तब पलक बन्द कर लें। आँखों के बन्द हो जाने पर भी जब तक मन इधर-उधर न जाय तब तक आँखें बन्द रखें,

जब मन इधर-उधर जाय तो फिर आँखें खोलकर इष्टदेव के रूप को देखने लग जायँ। इस प्रकार प्रतिदिन एक ही समय ध्यान करने पर इष्टदेव की छवि आँखों में बस जायगी, जिससे फिर इष्टदेव को सामने न रखने पर भी ध्यान किया जा सकेगा। इष्टदेव की छवि को आँखों में बसाने में सहायता हो इसके लिये उसी चित्र की अनेक प्रतियाँ मँगाकर उठने-बैठने, खाने-पीने, सोने-लेटने के स्थानों पर लगा दें, जिससे बार-बार उन पर दृष्टि पड़े। ऐसा करने से छवि आँखों में शीघ्र बस जायगी, जिससे ध्यान में सहायता होगी। इस प्रकार आँखों में छवि ठीक से बस जाने पर चित्र सामने न रखने पर भी ध्यान करने की योग्यता आ जायगी।

ॐ

पुण्य-पाप परस्पर नाशक हैं या नहीं ?

शंका—एक महापुरुष ने कहा कि 'पाप से पुण्य का तथा पुण्य से पाप का नाश नहीं होता, दोनों का फल अलग-अलग भोगना पड़ता है।' दूसरे महापुरुष का कहना है कि 'पाप से पुण्य का तथा पुण्य से पाप का नाश हो जाता है।' इन दोनों में से किसका कथन ठीक है ? शास्त्रप्रमाणपूर्वक बताने की कृपा करें तथा युक्ति से भी समर्थन करें।

समाधान—दोनों ही महापुरुषों का कथन ठीक है। युक्ति से समर्थन इस प्रकार किया जा सकता है कि यदि अधिक पाप होने से कम पुण्य का पूरा नाश हो जाय तो केवल पाप ही बचेंगे। इससे अगला जन्म ऐसा होना चाहिये, जिसमें बचे हुए पापों का फल दुःख ही दुःख भोगना पड़े, सुख जरा भी न मिले। इसी प्रकार अधिक पुण्य होने से कम पाप का पूरा नाश हो जाय तो अगला जन्म ऐसा होना चाहिये, जिसमें बचे हुए पुण्यों का फल सुख ही सुख भोगना पड़े, दुःख जरा भी न मिले। किन्तु ऐसा होना प्रत्यक्ष अनुभवविरुद्ध होने से माना नहीं जा सकता। क्योंकि कीट-पतङ्ग से लेकर देवों तक सभी के जीवन में सुख-दुःख दोनों ही देखे तथा सुने जाते हैं। इस प्रकार युक्ति से प्रथम महापुरुष के कथन का समर्थन हो जाता है।

यदि पाप का पुण्य से नाश होता ही न हो तो पाप-नाश के लिये ही बताये गये प्रायश्चित्तों की व्यर्थता होगी और इसका समर्थन करनेवाली पौराणिक कथायें असत्य हो जायेंगी। इन दोनों दोषों से बचने के लिये शास्त्रकथित प्रायश्चित्त कर्मजन्य पुण्य से पाप का नाश होता ही है, ऐसा मानना अति-आवश्यक है। लोक-व्यवहार में भी यही देखा जाता है कि चोरी-जारी आदि कुकर्मजन्य पाप का नाश राजकीय बिधान के अनुसार अर्थदान (जुर्माना) से अथवा कारागार में कष्टसहनरूप तपस्या से हो जाता है।

इसी प्रकार यदि पुण्य का पाप से नाश होता ही न हो तो पुण्य का पाप से नाश कथन करनेवाले शास्त्रवचन अप्रमाण हो जायँगे और इसका समर्थन करनेवाली पौराणिक कथायें असत्य हो जायँगी। इन दोनों दोषों से बचने के लिये शास्त्रकथित अशुभकर्म जन्य पाप से पुण्य का नाश होता ही है, ऐसा मानना अति-आवश्यक है। लोकव्यवहार में भी यही देखने में आता है कि अबला महिला की रक्षारूप शुभकर्मजन्य यशरूप पुण्य का नाश उसके साथ व्यभिचाररूप अशुभकर्मजन्य अयशरूप पाप से हो जाता है। इस प्रकार युक्ति से दूसरे महापुरुष के कथन का भी समर्थन हो जाता है।

प्रथम महापुरुष ने जो कहा है कि 'पाप से पुण्य का तथा पुण्य से पाप का नाश नहीं होता' इसमें राजा नृग की पौराणिक कथा तथा नीचे लिखा पुराणवचन प्रमाण है—

न नष्टं दुष्कृतं कर्म सुकृतेन च कर्मणा ।
न नष्टं सुकृतं कर्म कृतेन दुष्कृतेन च ।।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण ४।८५।४१)

महाभारत में भी कहा है कि—'वहाँ धर्म और अधर्म दोनों के ही फल का भोग करता है ।'—

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ।

(उद्योगपर्व ३९।३९)

दूसरे महापुरुष ने जो कहा है कि 'पुण्य से पाप का नाश हो जाता है' इसमें मनुस्मृति के नीचे लिखे वचन प्रमाण हैं—

ऐतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक् पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ।।

(मनु० ११।७१)

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये ।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्धयति ।।

(मनु० ११।१०३)

अर्थ—ये सभी कहे हुए पाप पृथक्-पृथक् जिन व्रतों से नष्ट होते हैं, उन्हें भलीभाँति सुनो । माता के साथ मैथुन करनेवाला अपने पाप का कथन करके जलती हुई लोहे की स्त्री-मूर्ति का आलिंगन करके तपे हुए लोहे की शय्या पर शयन करे । इस प्रकार की मृत्यु से वह शुद्ध हो जाता है ।

नाना प्रकार के पापों का नाश करने के लिये नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों को जानने के लिये मनुस्मृति का ग्यारहवाँ अध्याय पढ़ना चाहिये । विस्तार से जानने के लिये तो वीरमित्रोदय ग्रन्थ का प्रायश्चित्तप्रकाश नाम का प्रकरण पढ़ना चाहिये ।

प्रायश्चित्त के बारे में एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि जो लोग पहले से ही यह निश्चय करके पाप करते हैं कि बाद में इसका प्रायश्चित्त कर लेंगे । इस प्रकार बुद्धिपूर्वक किये गये पाप का नाश प्रायश्चित्त से नहीं होता । उन्हें पाप का तथा प्रायश्चित्त का फल अलग-अलग ही भोगना पड़ता है, ऐसा महाभारत के शान्ति-पर्व में कहा है ।—

स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ।।

(शान्तिपर्व २९१।११)

❁

ॐ

कामादि दोष कैसे दूर हों ?

शंका--सन्तों के मुख से सुना कि कामादि दोषों को दूर करने का सर्वोत्तम एकमात्र उपाय विवेक ही है। क्योंकि विवेक द्वारा जब यह निर्णय हो जाता है कि कामादि दोष परिणाम में महान्‌हानिकर हैं, तो मन, इन्द्रियाँ भी स्वयं उनसे हट जाती हैं। जैसे विवेक से संखिया-विष या विषयुक्त भोजन महान्‌हानिकर तथा प्राणहर हैं, ऐसा निर्णय होने पर मन, इन्द्रियाँ स्वयं उनसे हट जाती हैं।

सन्तों का कथन सर्वथा सत्य है। प्रयोग करके मैंने इसकी सत्यता का प्रत्यक्ष भी किया है। मुझे बीड़ी-सिगरेट पीने की बुरी आदत हो गयी थी। एक वैज्ञानिक के लेख से जब मुझे यह विवेक हुआ कि बीड़ी-सिगरेट पीने से कैंसर जैसे प्राणहर कष्टकर रोग हो जाते हैं। ऐसा विवेक होते ही मन और इन्द्रियाँ उधर से स्वयं हट गयीं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध हो गया कि विवेकमात्र से दोष दूर हो जाता है। परन्तु मैंने अपने कामरूप दोष को दूर करने के लिये सन्तों से सुना एवं सद्‌ग्रन्थों में भी पढ़ा कि नर-नारी शरीर में अस्थि-मांस-चर्बी के अतिरिक्त सुन्दरता नाम की क्या

चीज है ? नर-नारी में नहीं, किन्तु अपनी इन्द्रियों के संघर्षण एवं चरम धातु के पतन में क्षणिक सुख का भान होता है। परिणाम में तो श्रम-शैथिल्य-रोग ही हाथ आते हैं। नर-नारी शरीर के गुप्ताङ्ग तो दुर्गन्ध की खान हैं।

ऐसा विवेक मुझे सन्तों एवं सन्तों से **परोक्ष रूप में ही हुआ** हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु विवाहित होने के कारण एक बार नहीं, हजारों बार **प्रत्यक्ष अनुभव** भी किया है। मेरी धर्मपत्नी भी साधिका है। हम दोनों का विवाह हुए ३० वर्ष हो गये, ४५-५० की आयु हो गयी। इस ढलती हुई आयु में भी उक्त **परोक्षविवेक** ही नहीं, किन्तु **अपरोक्ष अनुभव** रहते हुए भी हम दोनों पति-पत्नी सत्यतापूर्वक कहते हैं कि कामविकार दूर नहीं हो रहा।

६५ वर्ष सत्सङ्ग, सद्‌ग्रन्थों का अध्ययन एवं साधन करते हो गये। उक्त **परोक्ष विवेक** और **प्रत्यक्ष अनुभव** से अधिक कुछ नया विवेक या अनुभव आगे होगा, जिससे यह कामविकार दूर हो जायगा, ऐसी आशा भी मुझे नहीं है। क्योंकि ३० वर्ष के सन्तों के प्रवचनों में और सद्‌ग्रन्थों के अध्ययन में उक्त विवेक से अधिक कुछ भी सुनने-पढ़ने को नहीं मिला। मेरे एक मित्र साधक हैं, उनके तीन विवाह हुए हैं, ६० वर्ष की आयु है, उनसे मैंने पूछा तो उन्होंने भी अपने **प्रत्यक्ष अनुभव** से कोई नयी बात नहीं बतायी।

मेरे एक मित्र हैं, वे मुझसे भी अच्छे साधक हैं। उन्होंने मुझे बताया कि धन के विषय में भागवत में कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥

(श्रीमद्भागवतपुराण ११।२३।१७ से २०)

अर्थात् धन के उपार्जन में, उत्पन्न धन के बढ़ाने में, रक्षा में, व्यय में, नाश में, उपभोग में मनुष्य को श्रम, त्रास, चिन्ता तथा भ्रम होता है। चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, व्यसन, ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्य को अर्थ (धन) के कारण प्राप्त होते हैं। इसलिये अर्थ नाम से कहे जानेवाले अनर्थरूप धन को कल्याण चाहनेवाला पुरुष दूर से ही त्याग दे। एक स्नेह में बँधे हुए भाई, पत्नी, माता-पिता, सुहृद भी कौड़ी-कौड़ी के लिये तुरन्त शत्रु हो जाते हैं।

सन्तों के मुख से इसकी व्याख्या विस्तार से मैंने सुनी और अच्छी तरह समझी भी है। इसलिये धन के दोषों का सम्यक् विवेक मुझे है। **परोक्ष विवेक** ही नहीं, किन्तु जीवन में पद-पद

पर ५० वर्ष से **प्रत्यक्ष अनुभव** भी कर रहा हूँ, फिर भी धन का लोभरूप दोष दूर नहीं हो रहा।

मुझे यहाँ शङ्का होती है कि थोड़ा-सा विवेक होने मात्र से बीड़ी-सिगरेट पीना रूप दोष मेरा दूर हो गया, किन्तु मेरे द्वारा और मेरे मित्र द्वारा बहुत वर्षों तक खूब विवेक करने पर और वर्षों तक उस **परोक्ष विवेक** की सत्यता का **प्रत्यक्ष अनुभव** कर लेने पर भी काम तथा लोभरूप दोष दूर क्यों नहीं होता ?

समाधान—जिसके जीवन में जो दोष प्रबल नहीं होता, उस दोष का निवारण विवेकमात्र से हो जाता है। जिसके जीवन में जो दोष प्रबल या अतिप्रबल होता है, उसका वह दोष केवल परोक्ष विवेक से ही नहीं किन्तु **प्रत्यक्ष अनुभव** द्वारा सत्यरूप में प्रमाणित विवेक द्वारा भी नहीं जाता। ऐसा शास्त्रों ने भी स्वीकार किया है। भागवत में स्पष्ट कहा है कि साधक भोगों को जानता है कि यह दुःखरूप हैं, फिर भी उन्हें त्यागने में समर्थ नहीं होता :—

वेद दुःखात्मकान् भोगान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ।

(भाग० ११।२०।२७)

गीता में भी अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि 'न चाहते हुए भी किसके द्वारा प्रयुक्त हुआ बलात् पापकर्म करता है ?—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(गीता ३।३६)

'न चाहते हुए भी' इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसे यह **विवेक** है कि 'यह काम करना ठीक नहीं', फिर भी परवश हुआ-सा करता है। भागवत तथा गीता के इन दोनों श्लोकों से अति स्पष्ट है कि भोगों को या दोषों को 'ये हानिकर हैं', ऐसा परोक्ष विवेक से ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने पर भी साधक उन्हें नहीं छोड़ पाता। ऐसी दशा में जो आधुनिक लोग ऐसा कहते हैं कि 'दोषों को दोष जान लेने से ही दोष दूर हो जाते हैं, उनको दूर करने के लिये अन्य किसी साधना की आवश्यकता नहीं है' 'दोषों को दूर करने का सर्वोत्तम एकमात्र उपाय विवेक ही है' उनके ये कथन शास्त्र तथा अनुभव दोनों से विरुद्ध होने के कारण ठीक नहीं।

अब यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि जो दोष परोक्ष विवेक से ही नहीं, किन्तु **प्रत्यक्ष अनुभव** से भी दूर नहीं होता, उसे दूर करने के लिये क्या करना चाहिये ? इस शङ्का का समाधान करते हुए भगवान् वहीं भागवत में कहते हैं कि 'दुःखों पर दुःख देनेवाले भोगों को (त्याग न कर सकने के कारण) भोगता हुआ (मेरा यह दुर्भाग्य है ऐसी) निन्दा करता हुआ **श्रद्धालु दृढ़निश्चयवाला** मेरा प्रेमी भक्त मेरा भजन करे। कथित भक्तियोग के द्वारा **बार-बार** जो मेरा भजन करता है, उसके हृदय में मेरे विराजमान हो जाने पर हृदयस्थित कामनायें (दोष) नष्ट हो जाती हैं।—

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥

(भागवत ११।२०।२८-२९)

इन श्लोकों में जिन दोषों को परोक्षविवेक से ही नहीं किन्तु **प्रत्यक्ष अनुभव** के द्वारा भी साधक दूर नहीं कर पाता उन दोषों को दूर करने का उपाय भगवान् ने अपनी भक्ति को बताया। इस भक्तिरूप उपाय को करनेवाले भक्त को श्लोकों में कथित तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। उसे **दृढ़श्रद्धावान्** और **दृढ़निश्चयवाला** होना चाहिये, तीसरी बात यह है कि **'असकृत्=बार-बार** अर्थात् जब तक भगवान् हृदय में स्थित न हो जायँ, तब तक दृढ़श्रद्धा तथा दृढ़निश्चय के साथ भक्ति करते ही रहना चाहिये।'

ऐसी भक्ति करने पर भी दोषों की प्रबलता तथा अतिप्रबलता के कारण एक या अनेक जन्म लग सकते हैं, क्योंकि भगवान् की प्राप्ति प्रायः अनेक जन्म साधना करने पर ही होती है। यह बात स्वयं भगवान् ने गीता में अतिस्पष्ट कही है कि 'बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानवान् मेरे को प्राप्त होता है, 'अनेक जन्म में सम्यक् सिद्ध हुआ परमगति (परमात्मा) को प्राप्त होता है।'—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

(गीता ७।१९)

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

(गीता ६।४५)

जिनको एक जन्म या थोड़े काल में ही भगवान् की प्राप्ति हो जाती है, उन लोगों ने भी पूर्व के अनेकों जन्मों में साधना की है, तभी इस एक जन्म में या थोड़े काल में ही उन्हें भगवान् की प्राप्ति होती है। पद्मपुराण में कथा आती है कि एक ब्राह्मण ने एक ऋषि से दीक्षा लेकर साधना की, थोड़े काल में ही भगवान् का दर्शन हो गया। उनके गुरु को बहुत काल साधना करते हो गया था, परन्तु दर्शन नहीं हुआ। इसका कारण जब ब्राह्मण ने भगवान् से पूछा तो भगवान् ने कहा कि 'हे विप्रेन्द्र ! बहुत जन्मों में परम भक्ति द्वारा तुमने मेरा पूजन किया है, इसलिये हे अनघ ! मैंने तुम्हें दर्शन दिया है।'

बहुजन्मसु विप्रेन्द्र भक्त्या परमया त्वया ।

पूजितोऽहमतो दत्तं दर्शनं ते मयाऽनघ ॥

(पद्मपुराण ७।१७।२३६, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८४)

भागवत ४।८३१।४/१।३०/३।२४/२८/३।२५।८/३।२७।२७ में भी बहुत जन्म की बात कही है।

ऊपर लिखे पद्मपुराण तथा गीता के वचनों से अति स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् का दर्शन अनेक जन्म साधना करने पर ही होता है। अतः आधुनिक लोगों का यह कथन ठीक नहीं कि 'भगवान् की प्राप्ति अति सुगम है, चुटकी बजाते ही हो जाती है।'

नारदपुराण में कहा है कि 'जो हरि की भक्ति में या हरिध्यान में लगे हैं, किन्तु अपने आश्रम के धर्मों से भ्रष्ट हैं, उन्हें पतित कहा जाता है।'—

हरिभक्तिपरो वापि हरिध्यानपरोऽपि वा ।

भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात् पतितः सोऽभिधीयते ॥

(नारदपुराण, पूर्वार्ध ४।२४, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८०)

लोक में भी यही देखने में आता है कि यदि कोई साधु हरिभक्ति या हरिध्यान तो नित्यनियम से करता हो, परन्तु मद्य-मांस का सेवन तथा व्यभिचार भी करता हो तो, भक्ति को सर्वोत्तम साधन माननेवाले भक्त भी उसे पतित ही कहते हैं। इसीलिये सन्त ने कहा—

भजन करत नित नेम से पाप करत दिन-रात ।

नारायण ऐसे भगत से प्रभु करत नहिं बात ॥

तात्पर्य यह है कि भक्ति के साथ स्मृतियों में कथित वर्ण-आश्रम के नियमों का, अर्थात् खाद्य-अखाद्य, स्पर्शास्पर्श, शौच-स्नान, सवर्णविवाह, शुद्धधनोपार्जन आदि का पालन भी अवश्य करना चाहिये। यदि इनकी आवश्यकता न होती तो ऋषियों ने मनुस्मृति आदि स्मृतियों में तथा पुराणों में विस्तार से लिखकर बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण क्यों किया ? बड़े दुःख की बात है कि आज साधक तथा उपदेशक भी इन नियमों पर ध्यान नहीं देते।

कुछ सत्सङ्ग करना, कुछ विचार कर लेना, कुछ पाठ-पूजा कर लेना, बस इसीको साधन मानते हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि २५-५० वर्ष साधन करने पर भी जैसा लाभ होना चाहिये वैसा लाभ नहीं होता। अतः स्मृतिपुराणकथित वर्णाश्रमधर्म-सहित ही भक्ति करनी चाहिये तभी लाभ होगा।

समाधान का सारांश यह है कि **परोक्षविवेक** और प्रत्यक्ष अनुभव से भी दूर न होनेवाले दोषों को दूर करने के लिये दोषों की प्रबलता तथा अतिप्रबलता की तारतम्यता-अनुसार **एक या अनेक जन्मों तक दृढ़श्रद्धा तथा दृढ़निश्चयवाला होकर बारम्बार** तब तक भक्ति करता रहे जब तक भगवान् हृदय में विराजमान न हो जायँ। भगवान् के हृदय में विराजमान होने पर ही हृदय-स्थित दोषरूप सारी कामनायें नष्ट होती हैं।

ऊपर लिखे गीता तथा पद्मपुराण के प्रामाणिक वचनों से जो साधक यह रहस्य समझ जाते हैं कि अतिप्रबल दोषों का निवारण तथा भगवान् की प्राप्ति अनेक जन्म साधना करने पर ही होती है, वे साधक २५-५० वर्ष साधना करने पर भी यदि कोई विशेष लाभ का अनुभव नहीं करते, तो भी धैर्यपूर्वक उत्साह से साधना करते रहते हैं। जो साधक इस रहस्य को नहीं जानते उनकी साधना में अश्रद्धा, शिथिलता आ आती है। अतः इस रहस्य को अवश्य जानना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'अनेक जन्म में सिद्धि होती है' ऐसा मानने पर तो साधन में शिथिलता आ जायगी। सो ऐसी बात

नहीं है, क्योंकि साधक समझ जाता है कि यदि साधन में शिथि-लता करूँगा तो और अधिक जन्म लगेंगे। इसलिये साधन में शिथिलता नहीं आने देता। पूरी तत्परता से लगा रहता है।

यदि यह शङ्का हो कि जन्मान्तर में इस जन्म की साधना का फल मिलेगा ही, इसमें क्या प्रमाण है ? तो इस शङ्का का समाधान यह है कि शिक्षा-दीक्षा, खान-पान समान होने पर भी दो बालकों के स्वभावों में जन्मजात जो वैचित्र्य प्रत्यक्ष देखने में आता है कि एक शान्त, दयालु, सन्तोषी स्वभाव का है, दूसरा इसके विपरीत स्वभाव का है। स्वभाव का यह अन्तर विवेक-अविवेक, सत्सङ्ग-कुसङ्ग आदि दृष्टकारणजन्य सिद्ध न होने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्वजन्म की साधना का फल है। देखिये गीता ६।३७ से ४४ तक की टीकायें।

ॐ

ईश्वर-विषयक शंका-समाधान

शंका—आस्तिक होने के कारण हम तो शास्त्रानुसारि सन्त-वचनों पर विश्वास रखते हैं, इसलिये ईश्वर है, वह सर्वसमर्थ, अविनाशी, दयालु, न्यायकारी, सर्वज्ञ आदि गुणों से युक्त है, ऐसा श्रद्धापूर्ण हृदय से स्वीकार करते हैं। एक कुतर्की व्यक्ति ने ईश्वर के विषय में नीचे लिखी शङ्कायें मुझसे कीं।

(१) यदि ईश्वर सर्वसमर्थ है तो वह अपना भी नाश कर सकता है या नहीं? यदि अपना भी नाश कर सकता है तो अविनाशी नहीं हो सकता। यदि अपना नाश करने में समर्थ नहीं तो सर्वसमर्थ नहीं हो सकता।

(२) यदि ईश्वर सर्वसमर्थ है तो ऐसा पत्थर बना सकता है या नहीं, जिसे स्वयं भी न उठा सके? यदि बना सकता है और उसे उठा नहीं सकता, तो सर्वसमर्थ नहीं हो सकता। यदि बना ही नहीं सकता, तो भी सर्वसमर्थ नहीं हो सकता।

(३) यदि ईश्वर अपराधी जीवों को दया करके दण्ड नहीं देता, तो न्यायकारी नहीं हो सकता। यदि न्यायकारी होने से दण्ड देता है, तो दयालु नहीं हो सकता।

इन शङ्काओं का समाधान मैं नहीं प्रदान कर सका। आपसे प्रार्थना है कि इनका सम्यक् समाधान प्रदान करने की कृपा करें।

समाधान—यदि शंका करनेवाला ईश्वर को ही न मानता हो, तो ऐसी शङ्कायें करने का अधिकारी ही नहीं। उसे तो ईश्वर है या नहीं? ऐसी ही शंका करनी चाहिये। यदि वह ईश्वर को तो मानता हो किन्तु सर्वसमर्थता आदि गुणों से युक्त न मानता हो, तो भी वह ऐसी शंकायें करने का अधिकारी नहीं। उसे तो ईश्वर में सर्वसमर्थता आदि गुण हैं या नहीं? ऐसी ही शंका करनी चाहिये।

यदि ईश्वर है और वह सर्वसमर्थता आदि गुणों से युक्त है, ऐसा माननेवाला व्यक्ति ऊपर लिखी शंकायें करता हो तो उसके वचनों में व्याघात अर्थात् परस्पर विरोध होने से ऐसी शंकायें करना उचित नहीं। क्योंकि न्यायकुसुमाञ्जलिकार श्री उदयनाचार्य-जी ने स्पष्ट कहा है कि तभी तक शंका करे जब तक अपने वचनों में व्याघात न हो—

'व्याघातावधिराशङ्का'

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि शंकाकर्ता ईश्वर को अविनाशी मानता है, तो ईश्वर अपना भी नाश कर सकता है या नहीं? ऐसी शंका करना, उसकी अपनी ही मान्यता से विरुद्ध होने के कारण उचित नहीं।

इसी प्रकार यदि शंकाकर्ता ईश्वर को सर्वसमर्थ, दयालु, न्यायकारी मानता है, तो ऐसी शंकायें करना, जिससे अपनी मानी हुई सर्वसमर्थता, दयालुता, न्यायकारिता के साथ विरोध हो, सर्वथा अनुचित है।

शङ्का—सर्वसमर्थता, अविनाशिता, दयालुता, न्यायकारिता आदि गुणों में परस्पर विरोध है, ये विरोधी गुण एक साथ ईश्वर में कैसे रहते हैं? ऐसी शंका हम आस्तिकों को भी होती है, इस शंका का क्या समाधान है?

समाधान—जो बातें शास्त्रप्रमाणसिद्ध हों, उनमें यदि विरोध आता हो तो उनकी सङ्गति लगाने के लिये एक बात का कुछ सङ्कुचित अर्थ इस प्रकार किया जाता है, जिससे विरोध दूर हो जाय। देखिये—शास्त्रों में भगवान् को निर्गुण और सगुण दोनों ही कहा है। इस विरोध को दूर करने के लिये पद्मपुराण में कहा है कि 'शास्त्रों में जो ईश्वर को निर्गुण कहा है, वह तो प्राकृत हेय सत्त्वादि गुणों से रहित होने के कारण कहा है।'—

योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः।
प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणहीनत्वमुच्यते ॥

(पद्मपु० ६।२२७।४०-४१)

इसी प्रकार 'हेयगुणों से रहित अशेष ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य-वीर्य-तेज आदि गुण भगवत् शब्द से कहे जाते हैं, इन गुणों से युक्त होने के कारण भगवान् सगुण हैं' ऐसा विष्णु, नारद तथा ब्रह्मपुराण में कहा है।—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांसि अशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥

(विष्णुपु० ६।५।७९), (नारदपु०, पूर्वार्ध ४६।४२),
(ब्रह्मपु० २३४।६७)

उक्त नियम के अनुसार 'भगवान् सर्वसमर्थ हैं', इसका अर्थ कुछ सङ्कुचित करके यही करना चाहिये कि जिस कार्य को मनुष्य देवता ऋषि तथा ब्रह्मा भी करने में समर्थ नहीं, उस कार्य को भी करने में समर्थ होने के कारण भगवान् सर्वसमर्थ हैं। ऐसा अर्थ 'सर्वसमर्थ' का समझ लेने पर 'ईश्वर अपना विनाश करने में समर्थ है या नहीं' 'ईश्वर ऐसा पत्थर बनाने में समर्थ है या नहीं, जिसे स्वयं उठाने में समर्थ न हो' ऐसी स्वघातक शंकाओं का उदय ही नहीं होगा।

इसी प्रकार अपराधी द्वारा प्रार्थना करने पर अल्प दण्ड देने के कारण ईश्वर में दयालुता और न्यायकारिता दोनों ही सिद्ध हो जाती है। अतः 'ईश्वर यदि अपराधी को दण्ड देता है तो दयालु नहीं। दण्ड नहीं देता तो न्यायकारी नहीं' इस शङ्का का समाधान भी हो जाता है।

शङ्का—भगवान् सर्वज्ञ हैं, इसलिये वे जानते ही हैं कि अमुक जीव अगले क्षणों में यह कुकर्म करेगा, उसका फल भोगने के लिये कुत्ता बनेगा। भगवान् का ज्ञान अबाध (यथार्थ) होने के कारण उस जीव को वह कुकर्म करना ही पड़ेगा। ऐसी दशा में 'जीव कुकर्म न करने में स्वतन्त्र है' ऐसा शास्त्र क्यों कहते हैं?

समाधान—अनन्त भूतकाल में, अनन्त भविष्यकाल में तथा वर्तमानकाल में, अनन्त जीवों की अनन्त-अनन्त शारीरिक-मानसिक-वाचिक क्रियाओं का ज्ञान भगवान् को सदा स्फुरित रहता है, ऐसा अर्थ सर्वज्ञता का मानकर शङ्का आपको हुई है। सर्वज्ञता

का ऐसा अर्थ मानने पर तो भगवान् को जो शास्त्र 'शान्ताकारं' कहते हैं उससे विरोध होगा। इसलिये ऐसा असम्भव अर्थ नहीं मानना चाहिये। सर्वज्ञता का अर्थ इतना ही है कि भगवान् चाहें तो जान सकते हैं। पहले से जानते हैं या सदा जानते हैं, ऐसा अर्थ जब सर्वज्ञता का होता, तब आपकी शङ्का ठीक होती। अतः ईश्वर की सर्वज्ञता पुरुषार्थ में बाधक न होने के कारण 'जीव कुकर्म न करने में स्वतन्त्र है' ऐसा शास्त्र का कथन ठीक ही है।

शंका—यदि भगवान् का पूजन-भजन-गुणगान करने पर भगवान् प्रसन्न (सुखी) होते हैं, न करने पर अप्रसन्न (दुःखी) होते हैं, तो भगवान् में और मानव में क्या अन्तर रहा? क्योंकि मानव भी गुणगान करने, न करने पर प्रसन्न-अप्रसन्न होता है।

समाधान—मानव **सचमुच** में व्यक्तिगत रूप में प्रसन्न-अप्रसन्न होता है। भगवान् **सचमुच** में व्यक्तिगत रूप में प्रसन्न-अप्रसन्न नहीं होते। भगवान् की प्रसन्नता-अप्रसन्नता संवैधानिक है, जिससे मानव का हित ही होता है, अहित नहीं होता। यही अन्तर है।

मेरा भाव न समझने के कारण तथा 'भगवान् सचमुच में प्रसन्न नहीं होते' इन शब्दों पर विशेष ध्यान जाने के कारण मेरा उत्तर सुनकर एक भक्त को बहुत असन्तोष हुआ। उनके असन्तोष को दूर करने के लिये मैंने पूछा कि यदि आप ऐसा मानते हैं कि गुण-गान आदि करने पर भगवान् **सचमुच** प्रसन्न (सुखी) होते हैं, तो गुणगान आदि न करने पर **सचमुच** अप्रसन्न (दुःखी) होते हैं, ऐसा भी आपको मानना होगा। ऐसी दशा में वर्तमान में भगवान्

अप्रसन्न (दुःखी) ही अधिक रहते होंगे, क्योंकि वर्तमान में गुणगान आदि बहुत कम होता है। तब तो भगवान् संसारी जीवों से भी गया-बीता होगा।

मेरे प्रश्न का उत्तर बहुत विचार करने पर भी नहीं दे सके, इसलिये कुछ देर चुप रहकर बोले कि शास्त्रों में गुणगान करने तथा न करने पर भगवान् प्रसन्न-अप्रसन्न होते हैं, ऐसा जो कहा है, उसका क्या तात्पर्य है?

मैंने कहा कि शास्त्रों का तात्पर्य संवैधानिक प्रसन्नता-अप्रसन्नता बताने में है। इसे एक उदाहरण से समझिये।—एक राजा या न्यायाधीश राजकीय नियमानुसार व्यवहार करनेवाले पर राज-कीय संविधान के अनुसार प्रसन्न होकर पुरस्कार देता है। राजकीय नियमानुसार व्यवहार न करनेवाले पर अप्रसन्न होकर दण्ड-प्रहार करता है। इस उदाहरण में राजा या न्यायाधीश की प्रसन्नता-अप्रसन्नता संवैधानिक ही होती है, **सचमुच** में वे व्यक्तिगत रूप में प्रसन्न (सुखी) अप्रसन्न (दुःखी) नहीं होते। इसी प्रकार भगवान् भी गुणगान आदि करने तथा न करनेवाले पर अपने वैदिक संविधान के अनुसार ही प्रसन्न-अप्रसन्न होते हैं, **सचमुच** व्यक्तिगत रूप से प्रसन्न (सुखी) अप्रसन्न (दुःखी) नहीं होते। सचमुच प्रसन्न-अप्रसन्न होते हैं, ऐसा मानने पर तो ईश्वरता ही नष्ट हो जायगी। इसलिये ऐसा तो आपको भी मान्य न होगा। मेरा विवेचन सुनकर उनका असन्तोष दूर हो गया और सन्तुष्ट

होकर बाले, आपका विवेचन ईश्वर की ईश्वरता की रक्षा तथा शास्त्रवचनों की सङ्गति प्रदान करनेवाला है।

गुणगान आदि करने तथा न करने से भगवान् **सचमुच** प्रसन्न-अप्रसन्न नहीं होते, इतना ही नहीं, किन्तु राधारानी के संयोग-वियोग से भी **सचमुच** प्रसन्न-अप्रसन्न नहीं होते, प्रसन्न-अप्रसन्न होने की लीला ही करते हैं। मेरी इस बात को सुनकर वृन्दावन-वासी राधारानी के अनन्य भक्त एक सन्त ने कुछ रुष्ट हो कटाक्ष करते हुए कहा कि ऐसा मानने पर तो यह भी मानना होगा कि राधारानी के प्रति कृष्णभगवान् का **सचमुच** प्रेम ही नहीं है। मैंने उनसे पूछा कि आप राधारानी को कृष्णभगवान् की आह्लादिनी शक्ति मानते हैं, शक्ति का शक्तिमान् भगवान् से **सचमुच** कभी वियोग होता है क्या? सन्त ने कहा कि शक्ति का शक्तिमान् भगवान् से सचमुच वियोग हो जाय यह तो संभव ही नहीं। मैंने कहा, जब **सचमुच** वियोग होता ही नहीं, तब वियोगजन्य **सचमुच** दुःखी होना तथा संयोग होकर सचमुच सुखी होना भी संभव नहीं। युक्तियुक्त मेरी बात सुनकर सन्त शान्त हो गये।

शंका—भगवान् की लीलायें नित्य हैं, अर्थात् सब काल में होती रहती हैं। तो क्या भगवान् हर समय गोचारण ही करते रहते हैं? या हर समय रास-लीला ही करते रहते हैं?

समाधान—एक सन्त का कहना है कि गोलोक में नित्य (प्रतिदिन) एक बार रास-लीला, नित्य एक बार गोचारण-लीला, इसी प्रकार अन्य लीलायें भी नित्य एक बार करते हैं, इसलिये

भगवान् की लीलायें नित्य हैं, ऐसा कहा गया है। मेरे विचार से तो सिद्धभक्त जिस-जिस काल में जो-जो लीला देखना चाहता है, उस-उस काल में वह-वह लीला सिद्धभक्त के सामने भगवान् प्रकट कर देते हैं, इसलिये भगवान् की लीलायें नित्य हैं, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है।

शंका—भगवान् सर्वत्र हैं अर्थात् सब देश में हैं, ऐसा शास्त्र कहते हैं, तो हमें क्यों नहीं दीखते?

समाधान—भगवान् सर्वदेश में हैं अर्थात् व्यापक हैं, यह बात भगवान् के निराकार रूप की दृष्टि से ही कही गयी है। भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा है कि 'मेरे अव्यक्त अर्थात् निराकार रूप से यह सब जगत् व्याप्त है, अर्थात् निराकार रूप से मैं सबमें व्यापक हूँ।—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता ९।४)

साकार भगवान् के सभी रूप सर्वदेश में नहीं रहते। शास्त्रों में कहीं साकार भगवान् के सभी रूपों को भी सर्वत्र रहनेवाला जो कहा है, उसका तात्पर्य भी यही है कि सिद्धभक्त जहाँ-जहाँ जिस-जिस साकार रूप का दर्शन करना चाहता है, वहाँ-वहाँ भगवान् उस-उस रूप से प्रकट हो जाते हैं।

ऐसा न मानें तो मर्त्यलोक की तो बात ही क्या, दिव्य गोलोक में भी सर्वत्र = सर्वदेश में भगवान् के सभी साकार रूप रहते हैं, ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता। देखिये—गोलोक के सर्वदेश में वहाँ के

सिद्धभक्तों को और नित्यपार्षदों को भगवान् का मुरलीमनोहर साकार रूप ही दीखता है, ग्वालबाल, गोपियाँ आदि नहीं दीखते, ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि ग्वालबाल आदि न दीखें तो लीला ही नहीं दीखेगी। सिद्धभक्तों तथा नित्यपार्षदों में सर्वदेश में साकार रूपदर्शन की योग्यता का अभाव होने से नहीं दीखते, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में मर्त्यलोक में जो अभक्त हैं या सिद्धभक्त नहीं हैं, उन्हें सर्वदेश में साकार रूप में भगवान् न दीखें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

साकार भगवान् सर्वदेश में जब हैं ही नहीं, तब किसीका यह कहना कि 'भगवान् सर्वदेश में, सर्वकाल में हैं, इसलिये उनकी प्राप्ति अति सुगम है, चुटकी बजाते होती है' सर्वथा विचारणीय है। भगवान् की प्राप्ति तो उन्हींके लिये सुगम है, जो नित्ययुक्त हैं, अनन्य चित्त से नित्य सतत स्मरण करते हैं (गीता ८।१४)। पापियों को भगवान् की प्राप्ति सुगम नहीं, वे तो भगवान् की शरण में भी नहीं जाते (गीता ७।१५)।

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्यापक, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति-लय करने की शक्ति से युक्त निराकार ईश्वर की सिद्धि तो केवल शास्त्रप्रमाण से ही होती है, अन्य प्रमाण से नहीं होती। ऐसा ही श्री शङ्कराचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि प्राचीन आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है। युक्ति से भी यही सिद्ध होता है। देखिये—जनसाधारण को छोड़ दीजिये, जिन विशिष्ट भक्तों की दीर्घकालीन निरन्तर उपासना से प्रसन्न होकर उनके अभीष्ट राम-

रूपादि से साकार भगवान् ने उन्हें प्रत्यक्षदर्शन दिया है, वे विशिष्ट भक्त भी यही भगवान् निराकार रूप से कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में सर्वत्र व्यापक हैं तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति-लय करने की शक्ति से युक्त हैं, इस बात को भगवत्-वाणीरूप शास्त्रप्रमाण पर या सामने खड़े भगवान् की वाणी पर विश्वास करके मान ही सकते हैं, प्रत्यक्ष नहीं कर सकते।

ॐ

सनातनधर्म का स्वरूप

एक प्रसिद्ध व्याख्यानदाता से एक सज्जन ने प्रश्न किया कि सनातनधर्म का ऐसा स्वरूप बतायें जो सर्वदेश-काल के लोगों को मान्य हो और युक्तियुक्त तथा संक्षिप्त हो।

व्याख्यानदाता ने कहा कि सच्चिदानन्द परमात्मा ही सनातन-तत्त्व है, अतः सद्-चित्-आनन्द के अनुरूप जो धर्म का स्वरूप होगा, वही सनातनधर्म का स्वरूप होगा। यह बात युक्तियुक्त है, इस-लिये सर्वदेश-काल के लोगों को मान्य भी होगी। देखिये—

'सत्' का अर्थ होता है 'सदा रहनेवाला' अर्थात् 'न मरने-वाला'। इनसे ये भावार्थ निकलते हैं—(१) जियो (२) जीने दो (३) मरो मत (४) मारो मत।

'चित्' का अर्थ होता है 'चेतन-ज्ञान' अर्थात् जड़ता 'मूर्खता से रहित होना'। इनसे ये भावार्थ निकलते हैं—(१) ज्ञानी बनो (२) ज्ञानी बनाओ (३) मूर्ख न बनो (४) मूर्ख न बनाओ।

'आनन्द' का अर्थ होता है 'सुख' अर्थात् 'दुःख से रहित होना'। इनसे ये भावार्थ निकलते हैं—(१) सुखी रहो (२) सुखी रखो (३) दुःखी न हो (४) दुःखी न करो।

सनातनतत्त्वरूप सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप के अनु-रूप होने से ऊपर लिखे १२ नियम ही सनातनधर्म का संक्षिप्त युक्ति-

युक्त स्वरूप है। ये १२ नियम सर्वदेश-काल के लोगों को मान्य भी हैं। इनके अतिरिक्त अन्य जितने धर्म के स्वरूप कहे जाते हैं, वे सब सर्वदेश-काल के लोगों के लिये न होने से सनातनधर्म नहीं हो सकते। देखिये—

ब्रह्मचर्य का पालन करना, केवल ब्रह्मचारी के लिये धर्म है, गृहस्थ के लिये नहीं। ऋतुकाल में पत्नीगमन करना, केवल गृहस्थ के लिये धर्म है, वानप्रस्थादि के लिये नहीं। प्याज-लहसुन भक्षण करना, ब्राह्मण के लिये अधर्म है, शूद्र के लिये नहीं। मूर्तिपूजा, हवन, संध्योपासना पवित्रकाल में धर्म है और अपवित्रकाल (सूतक-मृतक) काल में धर्म नहीं। द्विज के लिये जनेऊ धारण करना धर्म है, अवधूत परमहंस के लिये नहीं। अतः ये सब सनातनधर्म नहीं।

व्याख्यानदाता की सनातनधर्म की युक्तियुक्त-संक्षिप्त व्याख्या सुनकर हमें बहुत सन्तोष हुआ। क्योंकि ऐसी व्याख्या हमने पहले जीवन में कभी सुनी नहीं। इसलिये हमने मोटे बड़े-सुन्दर अक्षरों में मुद्रित कराकर इसका प्रचार-प्रसार किया। इसके विपरीत माननेवालों के साथ वाद-विवाद करके उन्हें भी इसे मानने के लिये आग्रह करता।

एक बार एकान्त में रहनेवाले तप्रसिद्ध शान्त सन्त से मिला। अभिमानपूर्वक सनातनधर्म की चर्चा उनके सामने स्वयं मैंने चलायी। सन्त शान्तभाव से मेरी बातें सुनते रहे। अन्त में मधुर-वाणी से मुझसे पूछा कि एक डाकू है, उसने अनेकों की हत्या कर

डाली है, साधारण पकड़ में आता नहीं है, इसलिये पुलिस ने उसे धोखा देकर (मूर्ख बनाकर) पकड़ने की योजना बनायी है। पकड़-कर जनता के सामने खूब मार-पीटकर दुःखी करके मार डालना चाहती है। पुलिस का ऐसा करना ठीक है या नहीं ? उस डाकू को मृत्यु से बचाने के लिये पुलिस की चालाकी का ज्ञान देकर तुम्हें उस डाकू को ज्ञानी बना देना चाहिये या नहीं ?

सन्त की बात सुनकर मैं आवेश में आकर जोर से बोल पड़ा कि पुलिस जो करना चाहती है सो सर्वथा ठीक है, मुझे उसका ज्ञान उस डाकू को बिल्कुल नहीं देना चाहिये। सन्त ने हँसकर कहा, भैया ! ऐसा स्वीकार करके तो आपने 'जीने दो', 'मारो मत', 'ज्ञानी बनाओ', 'मूर्ख मत बनाओ', 'सुखी रखो', 'दुःखी न करो', इन ६ सनातनधर्मों का खण्डन अपने मुख से ही कर दिया। मैं सन्त की मार्मिक बात सुनकर शरमाकर सिर झुकाकर बैठ गया।

सन्त ने प्रेमपूर्वक फिर पूछा कि यदि डाकू तुम्हें बलात् हरण करके ले जाय, उससे बचने का अन्य उपाय न देखकर डाकू के सामने ज्ञानी न बनकर मूर्ख बन जाने से डाकू से छुटकारा हो जाय तो तुम्हें मूर्ख बन जाना चाहिये या नहीं ? मैंने कहा, मूर्ख बन जाना चाहिये। सन्त ने अतिस्नेह से फिर पूछा कि यदि मूर्खतावश तुम माँ के साथ मैथुन कर डालो, तो उस महापाप के फल सैकड़ों वर्ष भयंकर नरक-यातना से बचने के लिये मनुस्मृति में प्रायश्चित्त बताया है।

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति॥
स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः॥

(मनुस्मृति ११।१०३-१०४)

अर्थात् माता के साथ किये मैथुनरूप महापाप का कथन करके अतिगरम लोहे की शय्या में जलती हुई लोहे की स्त्री-मूर्ति का आलिङ्गन करके सोये, इससे मरकर वह शुद्ध हो जाता है। अथवा स्वयं लिङ्गसहित अपने अण्डकोशों को काटकर अञ्जलि में लेकर नैर्ऋति दिशा में सीधा तब तक चलता जाय जब तक गिर न पड़े।

नरक से बचने के लिये ये मर जानेवाले प्रायश्चित्त तुम्हें दुःखी होकर (पश्चात्ताप करके) करने चाहिये या नहीं ? मैंने धीरे से कहा, करने चाहिये। तब सन्त ने कहा, बेटा ! इन बातों को स्वीकार करके 'जियो', 'मरो मत', 'ज्ञानी बनो', 'मूर्ख मत बनो', 'सुखी रहो', 'दुःखी न हो' इन ६ सनातनधर्मों का भी तुमने अपने मुख से ही खण्डन कर दिया। अब तुम्हीं बताओ कि ये १२ नियम सब देश-काल के लोगों को मान्य हैं, यह बात तो दूर रही, तुम्हें ही मान्य नहीं, फिर यही सनातनधर्म का स्वरूप है, ऐसा अभिमान-पूर्वक कथन करना कहाँ तक ठीक है ?

सन्त ने मेरे मुख से ही मेरी बात का खण्डन करा दिया, इससे मेरा सारा अभिमान धूलिसमान हो गया। रोते हुए सन्त के

चरणारविन्द पकड़कर सनातनधर्म का स्वरूप बताने की प्रार्थना की। शान्त एकान्तप्रिय सन्त ने अत्यन्त प्यार से मेरे सिर पर करकमल फेरकर कहा, बेटा! सनातन सच्चिदानन्द परमात्मा के श्वास-निश्वासरूप अनादि अपौरुषेय वेदों में तथा वेदानुसारी स्मृति-पुराण आदि शास्त्रों में प्रतिपादित धर्म ही सनातनधर्म का स्वरूप है।

इसका कारण बताते हुए सन्त ने कहा कि शरीरादि अनात्म-पदार्थों से पृथक् आत्मा का, स्वर्ग-नरकादि परलोक का, इनमें किस कर्म का क्या फल होता है, इस नियम का तथा कर्मफलदाता ईश्वर का ज्ञान, भौतिकविज्ञान या युक्ति से नहीं हो सकता। इन सबका ज्ञान तो अनादि अपौरुषेय वेद तथा वेदानुसारी शास्त्रों से ही होता है। (इस बात को विस्तार से जानने के लिये 'वैदिकचर्या-विज्ञान' की भूमिका पढ़ो।)

एकान्तप्रिय शान्त सन्त के सत्सङ्ग से मेरी समझ में आ गया कि वस्तुतः सनातनधर्म का स्वरूप वेदशास्त्रगम्य है। उसे वेदशास्त्र अध्ययन करनेवाले सन्त ही जानते हैं। अन्य व्याख्यानदाता वे चाहे जितने प्रसिद्ध हों सनातनधर्म का स्वरूप नहीं जानते। अतः गीता में ठीक ही कहा है कि कार्य (धर्म) अकार्य (अधर्म) की व्यवस्था में तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'।

(गीता १६।२४)

ॐ

अर्धांगिनी अर्धफलभागिनी

शङ्का—पति का आधा अङ्ग होने के कारण पत्नी को अर्धाङ्गिनी कहते हैं, इसलिये पति द्वारा किये गये शुभकर्म का आधा फल पत्नी को मिलता है, ऐसा लोग कहते हैं। क्या यह बात शास्त्रसम्मत है? इसके लिये पत्नी के लिये भी कुछ नियम हैं या पत्नी होने मात्र से ही आधा फल मिल जाता है?

समाधान—अर्धाङ्गिनी पत्नी अर्धफलभागिनी होती है, इसमें नीचे लिखे शास्त्रवचन प्रमाण हैं। इन्हीं शास्त्रवचनों में 'पतिसेवा', 'पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष में चित्त का न होना' ये नियम स्त्री के लिये बताये हैं। इनके होने पर ही अर्धफलभागिनी होती है, पत्नी होने मात्र से आधा फल नहीं मिलता। शास्त्रवचन ये हैं—

नारी भर्तुं कृतादर्धं पुण्यं प्राप्नोति सुन्दरी॥

(विष्णुधर्मोत्तरपु० १।१६४।१४)

स्त्रियश्चैवं समस्तस्य नरैर्दुःखार्जितस्य वै।
पुण्यस्यार्धापहारिण्यः पतिशुश्रूषयैव हि॥

(मार्कण्डेयपु० १६।६१-६२)

यद्देवेभ्यो यत् पितृभ्योऽतिथिभ्यः
कुर्याद् भर्ताऽभ्यर्चनं सत्क्रियां च ।
तस्यार्धं केवलानन्यचित्ता
नारी भुङ्क्ते भर्तृशुश्रूषयैव ॥

(मार्कण्डेयपु० १६।६४), (गरुडपु० २।१६।६०)

अर्थ—हे सुन्दरी ! नारी पति के किये आधे पुण्य को प्राप्त करती है। नर के द्वारा दुःख से अर्जित पुण्य का आधा भाग पति की सेवा से ही स्त्री हरण कर लेती है। पति देवता-पितरों-अतिथियों की पूजा तथा अन्य जो शुभकर्म करता है, उसका आधा फल अनन्यचित्तानारी पतिसेवा से ही प्राप्त कर लेती है।

शंका—अर्धाङ्गिनी होने से पत्नी जैसे पति के शुभकर्म का आधा फल प्राप्त कर लेती है, वैसे ही पति के पापकर्म का भी आधा फल पाती है क्या ?

समाधान—ऊपर लिखे सभी शास्त्रवचनों में शुभकर्म का ही आधा फल पाने की बात कही है, पापकर्म का तो नाम भी नहीं लिया। इसलिये शास्त्रप्रमाण से तो आधा पुण्य ही पाती है, पाप नहीं पाती। ऐसा होना युक्ति से भी ठीक ही है, क्योंकि सेवा से सर्वत्र पुण्य ही प्राप्त होता है, पाप नहीं। लोक-व्यवहार की दृष्टि से देखा जाय तो भी ठीक ही है, क्योंकि पति यदि बाहर का कार्य करता है तो पत्नी घर के भीतर का कार्य करती है। इसलिये दोनों का समान अधिकार है। हाँ, यदि पत्नी पति के अशुभकर्म में

सहयोग करे तो अशुभकर्म का भी फल पत्नी को प्राप्त होगा। पति भी पत्नी के अशुभकर्म में सहयोग करे तो पति को भी पत्नी के अशुभकर्म का फल प्राप्त होगा। पति-पत्नी की बात जाने दीजिये, कोई भी किसीके शुभ-अशुभकर्म में जितना सहयोग करता है, उतना शुभ-अशुभफल उसे भी प्राप्त होता है। इसलिये हो सके तो मन-तन-धन-वचन से दूसरे के शुभकर्म में ही सहयोग करना चाहिये, अशुभकर्म में नहीं।

ॐ

आत्महत्या अपराध क्यों ?

शंका—अत्यन्त पीड़ादायक, असाध्यरोगों से पीड़ित जरावस्था-ग्रसित अथवा अपरिहार्य दरिद्रताग्रसित, समाजतिरस्कृत, सर्वत्र असफल होने के कारण अतिमनोव्यथा से निरन्तर व्यथित व्यक्ति इन दुःखों से मुक्त होने के लिये अन्य उपाय न होने के कारण यदि आत्महत्या करता है, तो उसे सरकार अपराध क्यों मानती है ? उसे पकड़कर कारागार में क्यों बन्द करती है ? शास्त्रों में भी असाध्यव्याधि, जरा आदि से ग्रस्त मनुष्य के लिये अनशन (उपवास), महाप्रस्थानगमन, भृगुपतन आदि से आत्महत्या का विधान है। देखिये—

यदाऽकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाऽथवा ।
आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम् ।।

(भागवत ७।१२।२३)

अपराजितां वास्थाय व्रजेद् दिशमजिह्मगः ।
आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ।।

(मनु० ६।३१)

अर्थ—व्याधि अथवा जरावस्था के कारण जब अपनी क्रिया करने में भी असमर्थ हो जाय और तत्त्वविचाररूप विद्या में भी

असमर्थ हो जाय तो अनशन (उपवास) आदि करे। ईशान दिशा में सीधा वायु-जल पीता हुआ शरीर गिरने तक चला जाय।

इस प्रकार जब शास्त्र में आत्महत्या का स्पष्ट विधान है, तो भी शास्त्र के विद्वान् भी आत्महत्या को पाप क्यों बताते हैं ?

समाधान—अधिक लोग तो काम-क्रोध के आवेश में वृद्धमाता-पिता, युवती पत्नी तथा अबोध बच्चों को भी छोड़कर आत्महत्या कर लेते हैं। इससे सामाजिक महान् हानि होती है। लौकिक-अलौकिक नानाविधि उन्नतिप्रदायक दुर्लभ मानव-शरीर का क्षणिक आवेश में त्याग कर देने से व्यक्तिगत भी महान् हानि होती है। ऐसा केवल विचारशील मानव ही नहीं कहते, बल्कि किसी कारण आत्महत्या न कर सकने के कारण आवेश शान्त होने पर वे स्वयं ही कहते हैं।

जिनके माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि नहीं हैं और असाध्य, कष्टदायक रोगों से पीड़ित हैं, वे लोग आत्महत्या के द्वारा उन कष्टों से मुक्त होने के लिये प्रयास करते हैं। परन्तु ऐसा भी बहुत बार देखा जाता है कि वे मरते तो नहीं, बल्कि उनके हाथ-पैर आदि अङ्ग टूट जाते हैं, सिर पर चोट लग जाने से पागल हो जाते हैं। ऐसा हो जाने पर उन्हें पहले से भी अधिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। इन सब कारणों से सरकार आत्महत्या को अपराध मानती है।

जो लोग दरिद्रता, असफलता तथा बुद्धिमन्दता के कारण आत्महत्या की बात सोचते हैं, उनकी सहायता धनी, सफल, बुद्धि-

मान् मनुष्यों को सब प्रकार करके आत्महत्या जैसे हानिकर कर्म से अवश्य बचाना चाहिये ।

शास्त्र में विधान होने पर भी शास्त्र के विद्वान् आत्महत्या को पाप इसलिये बताते हैं कि वे विधान सतयुग आदि युगों के लिये हैं, कलियुग में तो उनका निषेध शास्त्रों में ही किया है । देखिये—

भृग्वग्निपतनैश्चैव वृद्धादिमरणं तथा ।
महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः ।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥

(निर्णयसिन्धुः)

अर्थ—भृगु (अर्थात् ऊँचे पर्वत) से गिरना, अग्नि में गिरना आदि उपायों से वृद्ध आदि का मरण, महाप्रस्थानगमन (अर्थात् बिना भोजन के ईशान दिशा में गिर पड़ने तक सीधा चलना), गोमेधयज्ञ, इन धर्मों को विद्वानों ने कलियुग में निषेध किया है ।

कलियुग में निषिद्ध होने पर भी जो लोग आत्महत्या करते हैं उन्हें नरक की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रों में ही कहा है । देखिये—

आत्मघाती नरः पापो नरके पच्यते चिरम् ।

(वाराहपुराण १६२।३५, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८०)

अन्धतमो विशेयुस्ते ये चैवात्महनो जनाः ।
भुक्त्वा निरयं साहस्रं ते च ग्रामशूकराः ॥

(स्कन्दपुराण ४।१२।१२, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६६)

आत्महा च पुमांस्तात न लोकान् लभते शुभान् ।

(आदिपर्व १७८।२०)

अर्थ—आत्महत्यारे पापी मनुष्य चिरकाल तक नरक में पचते हैं । आत्महत्यारे घोर अन्धकार (नरक) में प्रवेश करते हैं । हजारों नरक भोगकर वे ग्रामशूकर बनते हैं । आत्मघाती पुरुष को शुभलोक नहीं प्राप्त होते ।

शंका—सतयुग आदि में असाध्य व्याधि आदि से ग्रस्त मनुष्य के लिये आत्महत्या का विधान क्यों किया गया ? और कलियुग में आत्महत्या का निषेध क्यों किया गया ?

समाधान—प्रबलप्रारब्धजन्य असाध्य व्याधि आदि से उत्पन्न कष्टों को तो भोगना ही पड़ेगा, क्योंकि प्रबलप्रारब्धभोग के बिना अन्य लौकिक या अलौकिक जप-होमादि-दानादि अनुष्ठानों से भी नहीं मिटता—

जपहोमप्रदानैश्च कालमृत्युर्न शाम्यति ।

(भविष्यपु० ४।४।८५), पद्मपु० २।६६।१२३)

उस प्रबलप्रारब्धभोग का ही प्रकारान्तर से भोग कराने के लिये भृगुपतन, महाप्रस्थानगमन आदि का विधान सतयुग आदि में किया है । ऊँचे पर्वत से गिरने पर यदि मृत्यु न हो, हाथ-पैर टूट जायँ तो उस महान् कष्ट को सहकर मरणपर्यन्त वहीं पड़ा रहना चाहिये । इसी प्रकार महाप्रस्थानगमन में चलते समय काँटा-कंकड़ आदि के महान् कष्टों को सहकर सीधा ही चलना चाहिये, गिर

पड़ने पर मरणपर्यन्त वहीं पड़े रहना चाहिये। शास्त्रविहित इन महान् कष्टों को सहने का सामर्थ्य कलियुग के क्षुद्र जीवों में नहीं है, इसलिये कलियुग में शास्त्रविहित आत्महत्या का निषेध किया गया है। इस प्रकार युक्ति से शंका का समाधान किया गया।

मुख्य समाधान तो यह है कि अपराध (पाप) और उसका नाश विधान से ही जाने जाते हैं, युक्ति (तर्क) या भौतिकविज्ञान से नहीं जाने जाते। देखिये—एक युवक-युवती विवाह न करके प्रेम से सम्मतिपूर्वक मैथुन-क्रिया करते हैं, तो सरकार उसे अपराध मानती है। वही दोनों न्यायालय में जाकर विवाह करके वही मैथुन-क्रिया करते हैं, तो सरकार अपराध नहीं मानती। शरीरों के अंगों का सङ्ग, मनों के भावतरङ्ग तथा सुखानुभूति ज्यों की त्यों होने पर भी विवाह के पहले वही मैथुन-क्रिया अपराध है, विवाह कर लेने पर वह अपराध नहीं है। इस बात को सरकारी विधान के अतिरिक्त शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, रसायनविज्ञान, चुम्बकविज्ञान, विद्युत्विज्ञान आदि किसी भी भौतिकविज्ञान से अथवा युक्ति (तर्क) से नहीं जाना जा सकता।

इसी प्रकार सरकार की आज्ञानुसार कारागार के अन्दर इतने काल तक यह कार्य करने से उस अपराध का नाश हो जाता है। परन्तु अपनी इच्छानुसार कारागार से बाहर उतने काल तक वही कार्य करने पर भी अपराध का नाश क्यों नहीं होता? इसे भी सरकारी विधान के अतिरिक्त भौतिकविज्ञान या तर्क से सिद्ध नहीं

किया जा सकता। इससे अतिस्पष्ट यह सिद्ध हो जाता है कि अपराध (पाप) और उसका नाश विधान से ही जाना जाता है।

ऐसी दशा में शंका का मुख्य समाधान यही है कि कलियुग में आत्महत्या का विधान शास्त्र ने नहीं किया, इसलिये उसे करने से पाप होता है, नरक जाना पड़ता है, अतः आत्महत्या नहीं करनी चाहिये।

शास्त्रविधान का नाम सुनकर भौतिकविज्ञान के अभिमान से भरे अपने को बुद्धिमान् माननेवाले वर्तमान के जवान तीखी जबान से जबाब देते हैं कि जो बात भौतिकविज्ञान या युक्ति से सिद्ध न हो, उसे मानना अन्धविश्वास है, इसलिये हम शास्त्रविधान को नहीं मानते। वे ही जवान भौतिकविज्ञान तथा युक्ति से भी सिद्ध न होनेवाले ऊपर लिखे सरकारी विधान का जबान बन्द कर सम्मान करते हैं। ऐसी दशा में इन्हें बुद्धिमान् कहें या महाबुद्धिमान् कहें, यह समझ में नहीं आता।

ॐ

सुखी-दुःखी होने में मुख्य हेतु तन्मयता

शङ्का—किसी विरक्त सन्त से किसी गृहस्थ ने पूछा कि सभी प्राणी चाहते हैं कि हम सुखी ही रहें, दुःखी न हों, परन्तु ऐसा हो नहीं पाता, इसका कारण क्या है? सन्त ने कहा कि सुखी-दुःखी होने में मुख्य हेतु मन का तन्मय अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलता में मन का तदाकार हो जाना ही है। सन्त के वचन का क्या तात्पर्य है, मैं समझ नहीं पाया। उनसे पूछने का साहस न होने के कारण आपसे पूछता हूँ, समाधान प्रदान करने की कृपा करें। मैंने तो अन्य सन्तों के मुखारविन्द से तथा सद्ग्रन्थों के अध्ययन से यही जाना था कि स्वार्थ की पूर्ति-अपूर्ति से ही मानव सुखी-दुःखी होता है। मेरा अनुभव भी इसीका समर्थन करता है।

समाधान—स्वार्थ, सम्बन्ध, परिचय, दया, दर्शन, श्रवण, सत्यता की कल्पना तथा तन्मयता इन कारणों से मानव सुखी-दुःखी होता है। इनमें से स्वार्थ आदि कारण मन की तन्मयता द्वारा ही सुखी-दुःखी करने में हेतु होते हैं, साक्षात् हेतु नहीं होते, इसलिये ही सन्त ने तन्मयता को हेतु कहा है। देखिये—

स्वार्थ—जब मैं घर में रहता था तब माताजी की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से सुखी-दुःखी हो जाता था। इसी प्रकार

मेरी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से माताजी सुखी-दुःखी हो जाती थीं। इसका कारण यह था कि माताजी को छोड़कर मेरा और कोई मुख्य आश्रय न था। इसी प्रकार माताजी के लिये मेरे सिवाय और कोई मुख्य आश्रय न था। अतः स्वार्थ के कारण दोनों सुखी-दुःखी होते थे। तन-धन-जन-मान-अपमान आदि की प्राप्ति-अप्राप्ति से भी मानव सुखी-दुःखी होता है। इन सबका समावेश 'स्वार्थ' में ही हो जाता है। इसलिये अलग से कथन नहीं किया।

सम्बन्ध—जब मैं घर छोड़कर साधु हो गया तब माताजी का मुझसे और मेरा माताजी से कोई स्वार्थ सिद्ध न होने पर भी माताजी की अनुकूलता-प्रतिकूलता को सुनकर मैं सुखी-दुःखी हो जाता। इसी प्रकार माताजी भी मेरी अनुकूलता-प्रतिकूलता को सुनकर सुखी-दुःखी हो जाती थीं। इससे स्पष्ट है कि स्वार्थ के बिना सम्बन्ध भी सुखी दुःखी होने में हेतु होता है। सम्बन्ध के अन्तर्गत आसक्ति-ममता-मोह आ जाते हैं। अतः अलग से विवेचन नहीं किया।

परिचय—एक पुराने परिचित व्यक्ति स्टेशन पर मिले। रुपये गिर जाने से बड़े सङ्कट में थे, भूखे-प्यासे थे। उनके कष्ट को देखकर मैं दुःखी हो गया। एक सज्जन को उनके गिरे रुपये मिल गये, उन्होंने ईमानदारी से पूरे रुपये लाकर दे दिये। इससे मेरे परिचित व्यक्ति और मैं दोनों ही सुखी हो गये। इससे सिद्ध हो जाता है कि स्वार्थ और सम्बन्ध न होने पर भी परिचय भी सुखी-दुःखी होने में हेतु होता है।

दया—एक सर्वथा अपरिचित व्यक्ति को और उसके साथ रहने-वाले एक कुत्ते को किसी दुष्ट ने बुरी तरह घायल कर दिया। देख-कर बड़ी दया आयी, दुःखी हो गया। स्वार्थ, सम्बन्ध तथा परिचय न होने पर भी दया के कारण दुःखी हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दया भी दुःखी होने में हेतु होती है। ऐसी दया को भागवत में परमात्मा की आराधना कहा है।—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ।।

(भाग० ८।७।४४)

अर्थ--प्रायः साधुजन लोगों के ताप (दुःख) से तपते (दुःखी होते) हैं। अखिलात्मा परमात्मा की यह परम उपासना ही है।

दुःखी प्राणी के **दर्शन** से ही नहीं किन्तु **श्रवण** से तथा समाचार-पत्रों और पुराणों में उनकी वेदनाओं को पढ़कर भी मैं दुःखी हो जाता हूँ।

सत्यता की कल्पना—एक व्यक्ति ने आकर सुनाया कि गैया-मैया को एक दुष्ट लाठी से मार रहा है। सुनकर मैं दुःखी हो गया तीसरे व्यक्ति ने आकर बताया कि पुलिस ने दुष्ट को पकड़ लिया गाय को मार से बचा लिया। सुनकर मैं सुखी हो गया। तीसरे व्यक्ति ने आकर बताया कि दोनों व्यक्तियों के द्वारा बताया समाचार सत्य नहीं है। यह सुनकर सुख-दुःख दोनों ही समाप्त हो

गये। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि घटना की सत्यता की कल्पना भी सुखी-दुःखी होने में हेतु होती है।

तन्मयता—पहले से ही भलीभाँति जानता हूँ कि जो कहानी मैं पढ़ रहा हूँ वह सत्य नहीं है, लेखक की कल्पनामात्र है। फिर भी जब पढ़ते समय तन्मय हो जाता हूँ तो सुखी-दुःखी हो जाता हूँ। इतना ही नहीं, हँसने-रोने लग जाता हूँ। इससे अतिस्पष्ट हो जाता है कि स्वार्थ, सम्बन्ध, परिचय, सत्यता की कल्पना के बिना तन्मयता से ही दुःखी-सुखी हुआ। अतः तन्मयता को सुखी-दुःखी होने में मुख्य हेतु बताना सन्त का सर्वथा ठीक है। यही कारण है कि स्वार्थ आदि ऊपर बताये हेतुओं से सुखी-दुःखी होनेवाले मानव २४ घण्टे भी बराबर एक समान सुखी-दुःखी नहीं रह पाते, क्योंकि तन्मयता एक-सी नहीं रह पाती।

'तन्मयता ही सुखी-दुःखी होने में मुख्य हेतु है' इस रहस्य को जान लेने से एक बड़ा लाभ यह होता है कि किसी सन्त या साधक को कभी सुखी-दुःखी देखकर 'ये स्वार्थ या सम्बन्ध के कारण ही सुखी-दुःखी हो रहे हैं। ऐसी दूषित धारणा नहीं बनती एवं कभी तन्मयता के कारण स्वयं सुखी-दुःखी होने पर 'मेरे हृदय में अवश्य कुछ स्वार्थ छिपा होगा, नहीं तो सुखी-दुःखी हो ही नहीं सकता' ऐसी भ्रान्त धारणा से अपने में हीनता का भाव नहीं आता। वास्तविक बात यह है कि स्वार्थ आदि किस हेतु से तन्मयता होकर सुखी-दुःखी हो रहा हूँ, इस बात को ठीक-ठीक वही व्यक्ति जान

सकता है, दूसरा नहीं। अतः उस हेतु को ही दूर करने का प्रयास करना चाहिये।

उस हेतु को दूर करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वह जीवन में कितनी गहराई से प्रविष्ट है। उसके अनुसार यथा-सम्भव प्रयास करने पर ही समय पर सफलता मिलेगी। प्रायः स्वार्थ और बन्धुओं से स्नेहरूप अनुबन्ध (सम्बन्ध) जीवन में गहराई से प्रविष्ट होने के कारण शीघ्र तन्मयता उत्पन्न करके सुखी-दुःखी कर देते हैं, इसलिये सन्त एवं सद्‌ग्रन्थ स्वार्थ और सम्बन्ध को सुखी-दुःखी होने में हेतु कहते हैं, और सभी को वैसा अनुभव होता है। गहराई में प्रविष्ट होने के कारण इनका त्याग साधारण साधकों के लिये ही नहीं, किन्तु मुनियों के लिये भी कठिन होता है, ऐसा भागवत में कहा है—

स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः।

(भाग० १०।४७।५)

इसलिये शीघ्र सफलता न मिलने पर निराश नहीं होना चाहिये, धैर्यपूर्वक प्रयास करते ही रहना चाहिये।

ॐ

अपने को जो अप्रिय हो सो अधर्म

एक सन्त ने कहा कि 'जो अपने को अप्रिय हो, वह दूसरों के प्रति हमें नहीं करना चाहिये', 'उसे करना अधर्म है और न करना धर्म है' यही धर्म-अधर्म का वास्तविक सच्चा मुख्य लक्षण है। इसको स्पष्ट करते हुए सन्त ने कहा कि जैसे 'हमें दुःख अप्रिय है, तो हमें चाहिये कि हम दूसरों को दुःख न दें।' 'हमें अपमान अप्रिय है, तो हमें भी दूसरों का अपमान नहीं करना चाहिये।'

संक्षेप में धर्म-अधर्म का लक्षण तथा उसका विवेचन सन्त के मुख से श्रवण कर मुझे बहुत ही अच्छा लगा, और इसे अपने जीवन में लाने का प्रयास भी करने लगा। दूसरों को भी यह लक्षण और विवेचन जैसा सुना था वैसा सुनाकर उसके अनुसार चलने की प्रेरणा देने लगा। पत्रिकाओं में भी प्रकाशित कराया।

एक दिन पावन गंगा-तट पर विराजमान शान्त विद्वान् एक सन्त से इस पर बात की तो उन्होंने कहा कि तुम्हें मूँग की दाल अप्रिय है, तो क्या दूसरों को मूँग की दाल तुम्हें नहीं खिलाना चाहिये? खिलाने से अधर्म और न खिलाने से धर्म होगा? सन्त की बात सुनकर मैं चुप हो गया। कुछ देर बाद विचार कर कहा कि 'हमें जो रुचिकर न हो, वह भोजन हमें कोई कराये, यह बात

हमें अप्रिय है, अर्थात् हम चाहते हैं कि जो हमें रुचिकर हो वही भोजन हमें कराया जाय, इसलिये यदि किसीको मूँग की दाल प्रिय है तो उसे मूँग की दाल ही खिलाना चाहिये।' इस प्रकार मैंने अपनी बात का संशोधन करके समर्थन किया।

इस संशोधन को सुनकर सन्त ने फिर हमसे पूछा कि एक व्यक्ति को मूँग की दाल प्रिय है, किन्तु वैद्य ने अहितकर कुपथ्य होने के कारण उस रोगी व्यक्ति के लिये मूँग की दाल खिलाने को मना किया है। ऐसी दशा में उसे प्रिय मूँग की दाल देना धर्म होगा क्या? और अप्रिय सुपथ्य लौकी का साग देना अधर्म होगा क्या? सन्त की बात सुनकर मैं फिर चुप हो गया। कुछ देर विचार कर कहा कि 'अहितकर कुपथ्य भोजन कोई मुझे दे, यह बात मुझे प्रिय नहीं है, इसलिये मुझे चाहिये कि अहितकर कुपथ्य मूँग की दाल मैं उसे न दूँ, और अप्रिय सुपथ्य लौकी का साग ही दूँ। ऐसा करना ही धर्म होगा, इसके विपरीत करना अधर्म होगा।' इस प्रकार मैंने अपनी बात का पुनः संशोधन किया।

इस संशोधन को सुनकर सन्त ने फिर हमसे प्रश्न किया कि किस रोग में, किस देश में, किस काल में, किस अवस्था में, किसके लिये क्या हितकर सुपथ्य है और क्या अहितकर कुपथ्य है, इस बात को आयुर्वेदशास्त्र के बिना आप जान सकते हैं क्या? मैंने कहा, नहीं जान सकता। इस पर सन्त ने हँसकर कहा कि जब आप लौकिक भोजन जैसी साधारण बात पर भी क्या खाना या खिलाना धर्म है और क्या न खाना और न खिलाना अधर्म है, इसे शास्त्र के बिना

नहीं जान सकते, तब अलौकिक श्राद्ध में क्या देना, क्या न देना, इसे शास्त्र के बिना कैसे जान सकेंगे? श्राद्ध में शास्त्र द्वारा विहित गेहूँ-दूध आदि अपने को या ब्राह्मण को या मृत पिता आदि को अप्रिय होने से देने पर क्या अधर्म होगा? अथवा श्राद्ध में शास्त्र द्वारा निषिद्ध होने पर भी अपने को या ब्राह्मण को या मृत पितादि को मदिरा प्रिय होने पर भी मदिरा देने से क्या धर्म होगा? मैंने कहा, नहीं।

पुनः विद्वान् सन्त ने हँसकर कहा कि 'जो अपने को अप्रिय हो उसे दूसरों के प्रति करना अधर्म है, न करना धर्म है' आपने इस धर्म-अधर्म के लक्षण का अनेकों बार संशोधन किया, फिर भी भोजन जैसे साधारण लौकिक विषय पर भी शास्त्र बिना संगति नहीं बैठा सके, फिर भी उसे धर्म-अधर्म का वास्तविक सच्चा मुख्य लक्षण मानना और लोगों में उसका कथन करना, पत्रिकाओं में प्रकाशित करना क्या बुद्धिमत्ता है? मुझे मौन तथा लज्जित देखकर सन्त ने बड़े प्यार से कहा, 'बेटा! जो अपने को अप्रिय हो सो दूसरे के प्रति करना अधर्म है और न करना धर्म है।' यदि इस एक वाक्य से ही धर्म-अधर्म की पूरी व्यवस्था हो जाती तो अनेकों विशाल ग्रंथों की रचना सर्वज्ञ ऋषि क्यों करते? इसलिये धर्म-अधर्म की व्यवस्था शास्त्र से ही होती है। ऐसा ही गीता में कहा है—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'

(गीता १६।२४)

इसका मुख्य कारण यह है कि शरीर से पृथक् आत्मा, जन्मान्तर, स्वर्ग-नरकादि परलोक, इनमें किस कर्म का क्या फल होता है यह व्यवस्था, और फलदाता ईश्वर, इन सबकी सिद्धि युक्ति (तर्क) या भौतिकविज्ञान आदि से नहीं हो सकती। ये सब शास्त्रप्रमाण से ही सिद्ध होते हैं। इसलिये धर्म-अधर्म की व्यवस्था शास्त्र से ही होती है। अदूरदर्शी-आधुनिक लोगों के कर्णप्रिय अधूरे लक्षणों से नहीं हो सकती।

यद्यपि शास्त्रों में भी कहा है कि 'जो अपने प्रतिकूल हो, उसे दूसरों के प्रति आचरण न करें'—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'

शास्त्रों का यह कथन सम्पूर्ण रीति से धर्म-अधर्म की व्यवस्था करने के लिये है, ऐसा मानने पर ऊपर लिखे प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। अतः शास्त्र का उक्त कथन धर्म-अधर्म का मुख्य लक्षण नहीं, किन्तु साधारण कामचलाऊ सामान्य लक्षण ही है। यह सामान्य लक्षण भी उसी देश-काल के लिये है, जिस देश-काल में प्रायः शास्त्रप्रमाण के अनुसार धर्म-अधर्म का प्रचुर प्रचार-प्रसार है। अन्यथा ऊपर लिखी अकाट्य आपत्तियाँ अवश्य होंगी।

विद्वान् सन्त की बातों पर एकान्त में बैठकर बारम्बार गंभीरता से विचार करने पर मैं भी अब यही मानता हूँ कि धर्म-अधर्म में शास्त्र ही मुख्य प्रमाण है, तर्क या भौतिकविज्ञान नहीं।

ॐ

कर (टैक्स) का भार

शंका—सन्तों से सुना है कि १६ प्रतिशत, अधिक-से-अधिक २५ प्रतिशत जनता से राजा कर (टैक्स) ले, इससे अधिक कर न लगाये, ऐसा शास्त्रों में कहा है। वर्तमान सरकार (राजा) ने तो इससे दो-तीन गुना तक कर (टैक्स) लगा दिये हैं। इसलिये अधिकांश लोग परेशान होकर कर की चोरी मजबूरी से करते हैं और कहते हैं कि सरकार ने ही कर का महाभार लादकर हम लोगों को कर-चोर बनाया है, इसलिये सरकार ही दोषी है, हम लोग दोषी नहीं। ऐसी स्थिति में हम आपसे पूछते हैं कि शास्त्र की दृष्टि से कर-चोरी करनेवाले हम लोग दोषी हैं या नहीं, यह बताने की कृपा करें।

समाधान—पहले धर्मशाला-गोशाला-पौशाला-पाठशाला-औषधालय-अनाथालय-पुस्तकालय-जलाशय (कुआं-तालाब), अकाल में अन्न-वस्त्रदान आदि सामाजिक सर्वहितकारी कार्य धनी जनता ही करती थी। राजा को केवल भीतर-बाहर के शत्रुओं से रक्षा करने के लिये तथा अन्य ऐसे कुछ कार्यों के लिये जिन्हें जनता नहीं कर पाती थी, कर लगाना पड़ता था। इसलिये थोड़े कर से कार्य हो जाता था। वर्तमान में धनी जनता ने प्रायः पाठशाला आदि कार्यों

में धन लगाना बन्द कर दिया। इसलिये इन सब कार्यों को भी सरकार ही प्रायः करती है। इसलिये रुपयों की अधिक आवश्यकता होती है, अतः उसकी पूर्ति के लिये सरकार का कर-भार बढ़ाना ठीक ही है। इस दृष्टि से देखा जाय तो सरकार दोषी नहीं, कर-चोरी करनेवाले ही दोषी हैं। वर्तमान सरकार की दृष्टि से ही नहीं, प्राचीन शास्त्रदृष्टि से भी दोषी हैं, क्योंकि अधिक धन का गौशाला आदि सर्वहितकारी कार्यों में उपयोग न करके स्व-अहित-कारी भोगविलास में उपयोग करते हैं।

थोड़ा विचार तो कीजिये—भारतवर्ष की ६० प्रतिशत जनता गरीबी के स्तर से भी नीचे स्तर पर जीवन-निर्वाह कर रही है, यह सभी जानते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखते हैं कि पड़ोस के अनेक व्यक्तियों के पास सर्दी-गरमी-निवारण के लिये फटे-पुराने कपड़े भी पर्याप्त नहीं हैं। ऐसा देखकर भी हजारों रुपये कीमत की साड़ियाँ पत्नी के लिये खरीदते हैं। अपने लिये हजारों रुपये सिलाई देकर हजारों रुपये की कीमतवाले कपड़े के सूट-कोट आदि बनवाते हैं। हजारों रुपये के ऊनी कालीन कमरों में बिछाकर जूता-चप्पल पहनकर उन पर चलते हैं। पड़ोसी के पास झोपड़ी न होने पर भी अपने मकान में मकराना का संग-मरमर लगवाते हैं। इन कार्यों से शारीरिक सुख में जरा भी वृद्धि नहीं होती, फिर भी इन्हींमें रुपये लगाते हैं, पड़ोसियों के कष्ट-निवारण में रुपये नहीं लगाते। ऐसे लोगों को मानव कहा जाय या दानव कहा जाय। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे भोगी लोग

थोड़ी देर सत्संग में जाकर बैठ जाते हैं या थोड़ी देर पाठ-पूजा कर लेते हैं, इसलिये अपने मुख से ही अपने को साधक भी कहते हैं। साधक किसे कहते हैं, इसे बताने के लिये प्रसङ्गतः मनुष्य कितने प्रकार के होते हैं, यह बात हम शास्त्र के आधार पर पहले बताते हैं।

महापामरमानव—झूठ-कपट-मिलावट-कम तौलना-अच्छा माल दिखाकर बुरा माल देना-चोरी-डाका आदि शास्त्रनिषिद्ध कार्यों द्वारा धन-उपार्जन करके जो नर-नारी शास्त्रनिषिद्ध मांस-मद्य-मैथुन आदि का सेवन करते हैं, वे महापामर मनुष्य होते हैं।

पामरमानव—पामरमानव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे हैं जो ऊपर लिखे 'शास्त्रनिषिद्ध कार्यों द्वारा धन-उपार्जन करके शास्त्रविहित बादाम-रोटी-दाल-पूड़ी-कचौड़ी आदि का भोजन, घी-दूध का पान, विवाहित नर-नारी का मैथुन आदि विषय-सेवन करते हैं। दूसरे वे हैं जो शास्त्रविहित उपायों से न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करते हैं, किन्तु शास्त्रनिषिद्ध मांस-मद्य-मैथुन आदि विषय का सेवन करते हैं। इनमें से पहले का धन-उपार्जन, और दूसरे का विषय-सेवन, शास्त्रनिषिद्ध रीति से होने के कारण दोनों को पामर ही कहा जाता है।

विषयीमानव—जो नर-नारी शास्त्रविधान के अनुसार न्याय-पूर्वक धन का उपार्जन करके ऊपर लिखे शास्त्रविहित भोगों को ही भोगते हैं, उन्हें ही शास्त्र में विषयीमानव कहा गया है। इन्हें भी साधकमानव नहीं माना।

साधकमानव—जो नर-नारी शास्त्रविधि से न्यायपूर्वक उपार्जन किये धन में से सरकार का पूरा कर देकर और दशांश का दान ईश्वर-प्रसन्नता के लिये कर देते हैं। बचे हुए धन से शास्त्रविहित भोगों का सेवन इतना ही करते हैं जिससे जीवन का निर्वाहमात्र हो जाय और भजन-ध्यान-सेवा आदि भगवत्प्राप्ति करानेवाले आत्मकल्याणकारी कार्यों को करने योग्य तन-मन-वचन में शक्ति बनी रहे। इस प्रकार शास्त्रविहित भोगों में यथा-संभव संकोच करके बचे हुए धन को भी जनताजनार्दन की सेवा में जो नर-नारी लगा देते हैं, तथा बचे हुए समय को भजन-ध्यान-सेवा में ही लगाते हैं, वे ही साधकमानव हैं।

भागवत में कहा है कि—'काम (विषयसेवन) का फल इन्द्रिय की तृप्ति नहीं है, केवल जीवननिर्वाह है। जीवन तत्त्व-जिज्ञासा के लिये है, कर्मानुसार प्राप्त होनेवाले धन के लिये नहीं है।'—

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

(भाग० १।२।१०)

शास्त्रसम्मत साधकमानव की इस परिभाषा पर ध्यान जब जाता है, तब जो मानव ऊपर लिखे मिलावट-करचोरी आदि शास्त्रनिषिद्ध उपायों से अन्यायपूर्वक धन-उपार्जन करते हैं, पड़ोसी के नंगे-भूखे रहने पर भी लाखों-करोड़ों रुपये भोगासक्तिउत्पादक

तथा भगवत्प्राप्तिबाधक व्यर्थ के हानिकारक भोगविलास-सामग्री में लगाते हैं, फिर भी अपने मुख से ही अपने को साधक कहते हैं। इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा ? शास्त्र के अनुसार ऐसे नर-नारी साधक तो कहे ही नहीं जा सकते, इन्हें तो विषयीमानव भी नहीं कहा जा सकता। पामर ही कहा जा सकता है।

शंका—प्रसङ्गतः आपने महापामर-पामर-विषयी-साधकमानव के लक्षणों का बहुत सुन्दर विवेचन किया। विचार तो सरकार के कर-भार का चल रहा था। आपने उसे उचित बताते हुए कहा कि धनी जनता पाठशाला-धर्मशाला आदि सार्वजनिक उपयोगी कार्यों में धन न लगाकर व्यर्थ के भोगविलास में धन लगाती है, इसलिये कर-भार ठीक है। मुझे भी आपका समाधान ठीक मालूम देता है। अब पुनः यह शङ्का होती है कि यदि हम सरकारी कर की चोरी करके वह पूरा रुपया ईमानदारी से पाठ-शाला आदि जनता-उपयोगी कार्य में लगा दें, तो शास्त्र की दृष्टि में दोषी नहीं रहेंगे क्या ?

समाधान—ऐसा करने पर अवश्य ही आप शास्त्र की दृष्टि में दोषी नहीं रहेंगे, परन्तु सरकार की दृष्टि में तो दोषी ही रहेंगे। दो-चार उदारमानव जनता-उपयोगी कार्यों में धन लगायें और हजार-सौहजार भोगविलास में धन लगायें। ऐसा जब तक रहेगा तब तक सरकार कर-भार उतारकर नया कानून नहीं बना सकती। जब तक नया कानून नहीं बनता तब तक सरकारी कर

की चोरी करनेवाले सरकार की दृष्टि में दोषी रहेंगे ही, पकड़े जाने पर दण्ड मिलेगा ही।

शङ्का—सरकार का कर-भार इतना अधिक है कि यदि हम उसे पूरा दे दें, तो परिवार का जीवन-निर्वाह ही न हो। ऐसी दशा में हम क्या करें?

समाधान—आपका कथन सत्य नहीं है। जितने धन से परि-वार का सामान्य जीवन-निर्वाह हो जाता है, उतने धन पर तो सर-कार ने कर (टैक्स) जरा भी नहीं लगाया। इसीलिये ६० प्रतिशत जनता का सामान्य जीवन-निर्वाह हो रहा है।

शङ्का—हमें जीवन-निर्वाह के अतिरिक्त पुत्रियों के विवाह के लिये, पुत्रों को भविष्य में धनाभाव के कष्ट से बचाने के लिये, वृद्धावस्था, बीमारी आदि के लिये भी तो धन चाहिये। पूरा कर देने पर ये काम कैसे होंगे?

समाधान—यह सब कार्य ६० प्रतिशत जनसामान्य को भी करने पड़ते हैं, जैसे वे सब इन कार्यों को करते हैं, वैसे ही आपके भी हो जायँगे। बाबूजी! चतुराई-चालाकी की बातें न कीजिये। आप अपने को साधक अपने मुख से कहते हैं, इसलिये ईश्वर को साक्षी बनाकर आत्मनिरीक्षण करें तो आपको स्पष्ट दीख जायगा कि लखपति-करोड़पति-अरबपति बनने की तथा भोगविलास की वासना ही कर-चोरी कराती है। यही कारण है कि पुत्रों के लिये ही नहीं, पौत्र-प्रपौत्र से लेकर १०-२० पीढ़ी आगे की सन्तानों के

लिये भी प्रथमश्रेणी का जीवन-निर्वाह करने के लिये जिनके पास पर्याप्त धन है, वे अरबपति भी कर की चोरी करते हैं। योग्य पुत्र-पौत्रों के लिये धन जोड़ने की आवश्यकता नहीं, वे स्वयं धन उपार्जन कर लेंगे। अयोग्य पुत्र-पौत्रों के लिये भी धन जोड़ने के लिये आवश्यकता नहीं, वे सब बरबाद कर देंगे। आप सत्सङ्ग करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, अपने को साधक मानते हैं, इसलिये ईश्वर पर, प्रारब्ध पर विश्वास करें, इसीसे ये फालतू विचार नष्ट हो जायँगे।

शंका—हम अपनी बिक्री तथा आमदनी को सही-सही पूरा दिखाकर बहीखाते लिखते हैं, तो सरकार उस पर विश्वास नहीं करती। उससे २-३-४ गुना बिक्री तथा आमदनी मानकर इतना अधिक कर माँगती है कि उसे देने पर तो दूकान ही समाप्त हो जाय। इसलिये हमें मजबूरी से कर की चोरी तथा झूठे बहीखाते लिखने पड़ते हैं। ऐसी दशा में आप ही बताइये हम क्या करें?

समाधान—मानव के मन में धन का महत्त्व वर्तमान में इतना अधिक हो गया है कि उचित-अनुचित सभी उपायों से धनवान् बनना चाहता है। इसलिये बिक्रीकर की चोरी करके कुछ कम दामों में माल बेचकर व्यापार बढ़ाता है। इनकम टैक्स अर्थात् आयकर की चोरी करके धन बढ़ाता है। ऐसा जब एक व्यापारी करता है तो दूसरे व्यापारी का व्यापार तथा धन कम हो जाता है। तब दूसरे व्यापारी भी वैसा ही करने लगते हैं। सरकारी पकड़ से बचने के लिये झूठे बहीखाते बनाने लग जाते हैं। सरकारी

कर्मचारी (आफिसर) को जब यह पता चल जाता है तो छापा मारता है। छापे में पकड़े जाने पर एक व्यापारी घूस देकर अपना बचाव कर लेता है। उसे देखकर दूसरे व्यापारी भी वैसा ही करते हैं। सरकारी कर्मचारी को सरकार जितना वेतन देती है, उससे अनेकों गुना धन घूसखोरी में मिल जाता है। इस प्रकार उनमें भी धन का लोभ बहुत हो जाता है। इसलिये धन-प्राप्ति के लिये तथा अधिकांश लोगों के द्वारा झूठे बहीखाते बनाये जाने के कारण सही बहीखाता बनानेवाले पर भी विश्वास नहीं करते। इस प्रकार व्यापारी तथा सरकारी कर्मचारी दोनों की लोभवृत्ति ने समस्या को जटिल बना दिया है। जिसे परलोकभय के बिना लोकभय से मिटाया नहीं जा सकता। क्योंकि इसे मिटाने के लिये सरकार जो नया कानून बनाकर भय दिखायेगी, उस लोकभय का भी नाश कर्मचारी तथा व्यापारी घूसखोरी से मिलकर कर देंगे। यही होता आ रहा है।

व्यापार बढ़ाकर धन बढ़ाने का लोभ यदि न हो तो बिक्री-कर की चोरी करने की कोई भी मजबूरी नहीं है। देखिये— बाजार में वस्तु का दाम चाहे जितना बढ़ जाय, उससे व्यापारी को कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उतना ही मूल्य बढ़ाकर वह वस्तु ग्राहक को देता है। इसी प्रकार सरकार द्वारा बिक्रीकर बढ़ाने पर भी व्यापारी को कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उतना बिक्रीकर बढ़ाकर ही वह ग्राहक को वस्तु देता है।

इसी प्रकार लखपति-करोड़पति-अरबपति बनने का लोभ न

हो तो आयकर (इनकम टैक्स) की चोरी करने की भी मजबूरी नहीं है। क्योंकि जीवन-निर्वाह के लिये भी कुछ न बचे, इतना अधिक आयकर सरकार ने लगाया ही नहीं है। सरकार ने तो इतना ही आयकर लगाया है कि धनी लोग जनसामान्य की अपेक्षा कुछ अधिक भोग-विलासयुक्त जीवन बिता सकें। बाकी धन कर के रूप में लेकर अन्न-वस्त्र-औषधि-मकान हीन जनता-जनार्दन की सेवा में लगा दिया जाय। सरकार का यह कार्य सर्वथा उचित है। निर्धनी जनता के बच्चों को दवा खाने के लिये भी दूध-मलाई न मिले, और धनी जनता के कुत्ते के बच्चे भी दूध-मलाई खायें। भला इस विषमता को कोई मानव कैसे उचित बता सकता है? अतः इसे मिटाना सर्वथा शास्त्रसम्मत है।

सरकार तो कुछ भोग-विलास के लिये भी कुछ धन देना स्वीकार करती है। इसलिये यदि आप भोगी हैं तो भी सरकार का कर-भार पूरा उतारकर भी भोग कर सकते हैं, कोई संकट की बात नहीं है। आप तो अपने को साधक कहते हैं, पीछे लिखे अनुसार साधक तो वही होता है जो भोग-विलास जरा भी न करे, न्याय-युक्त धन से शास्त्रविहित भोगों का भी सङ्कोच के साथ उतना ही भोग करे जितने से साधन करने योग्य तन-मन बने रहें। बाकी भोग-पदार्थों को कल्याण में बाधक समझकर जनता-जनार्दन की सेवा में लगा दे, या आवश्यकता से अधिक धन-उपार्जन ही न करे।

इस प्रकार विस्तार से जो विचार लिखा गया है उससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भोगी के लिये भी सरकार का कर-भार जीवन-

सङ्कट उपस्थित नहीं करता। ऐसी दशा में साधक के लिये जीवन-सङ्कट उपस्थित हो गया, ऐसा आपका मानना ठीक नहीं।

इस विषय में एक साधक की बात लिखता हूँ। गीताप्रेस-संस्थापक श्री सेठ जयदयाल गोयन्दका की शुद्धधन-उपार्जन की नीति को स्वीकार करनेवाले श्री ऋषभदेव गोयल नाम के एक व्यक्ति हैं, फिरोजपुर छावनी (पञ्जाब) में रहते हैं। कभी-कभी भूखे रहने जैसी अर्थसङ्कट की स्थिति में भी अशुद्धधन का उपार्जन नहीं किया। इतना ही नहीं, किन्तु जनता-जनार्दन को हानि प्रदान करने-वाले बीड़ी-सिगरेट-वेजिटेबिल आदि पदार्थों को बेचकर शुद्धधन उपार्जन करना भी ठीक नहीं माना। अब दूध-मावा का कार्य करते हैं। शतप्रतिशत शुद्धदूध से जनता-जनार्दन की सेवा करने के कारण जनता समय से पूर्व ही आकर पंक्ति बनाकर खड़ी हो जाती है। सरकार का पूरा कर-भार ५००-६०० रुपये रोज देते हैं। सामान्य जीवन-यापन करते हैं। अभी तक रहने के लिये निजी मकान न होने पर भी बचे धन में से बहुत कुछ धन साधु-ब्राह्मण-अनाथ नर-नारी की सेवा में लगा देते हैं। काम करनेवालों को पूरा उचित वेतन देना, उनकी कमजोरी का लाभ न उठाना, समय पर वेतन से अतिरिक्त सहायता करना अच्छा मानते हैं। ऐसा करना, काम न करनेवालों को दान देने की अपेक्षा भी अच्छा मानते हैं। इन सद्गुणों के कारण जनता ही नहीं, सन्त भी इनका सम्मान करते हैं।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि इस भयंकर कलियुग में भी दृढ़मति साधक सरकार का कर-भार पूरा उतारकर भी संकट-रहित जीवन-यापन कर सकता है। संकट तो उन्हीं लोगों को है, जो भीतर से लखपति-करोड़पति-अरबपति बनने की लालसा तथा महाभोगविलास की महा-अभिलाषा रखते हैं और बाहर से साधक होने का दिखावा करते हैं।

शंका—कर का भार बढ़ाकर भी सरकार जनता-जनार्दन की पूरी सेवा नहीं कर पाती, क्योंकि लोभी सरकारी कर्मचारी बीच में बहुत-सा धन खा जाते हैं। ऐसी दशा में पूरा कर (टैक्स) देना उचित कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—पूरा कर (टैक्स) दे देने से आपका अपना कर्तव्य-पालन हो जायगा। इससे आप पर भगवान् प्रसन्न होंगे। लोभी सर-कारी कर्मचारी ही ईश्वरीय दण्डभागी होंगे। जैसे धार्मिक संस्था को दान देनेवाले को पुण्य ही होता है। दान से प्राप्त धन का दुरुपयोग करनेवाले लोभी कर्मचारी को ही पाप लगता है, ऐसा ही कर देने में समझना चाहिये। ऐसा न कर सकें तो पूरा पैसा अपने हाथ से दान में लगा देना चाहिये।

ॐ

कथा-प्रवचन का अधिकार

शंका—जो लोग शास्त्रों के आधार पर या स्वतन्त्र विचारानुसार कथा-प्रवचन करते हैं, परन्तु आचरण उसके विपरीत करते हैं। उदाहरण के लिये देखिये, जो लोग स्वयं चटकीले-भड़कीले रङ्ग-बिरंगे कीमती वस्त्र धारण करते हैं, लाखों रुपये बैंक में जमा करते हैं, बड़ी-बड़ी योजनायें बनाते हैं, महाप्रवृत्तिपरायण हैं, ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, वे लोग भी सादे सस्ते कपड़े धारण करने का, अपरिग्रही, निर्लोभी होने का, छोटी योजना बनाने का, निवृत्तिपरायण होने का तथा ब्रह्मचर्य-पालन का उपदेश करते हैं। ऐसे लोग आचार्यपद पर बैठकर कथा-प्रवचन के अधिकारी नहीं हैं। क्योंकि जो शास्त्र के अर्थ का चयन करता है, तथा स्वयं उसके अनुसार आचरण भी करता है, तभी आचार्य कहलाने का अधिकारी तथा दूसरों को प्रवचन द्वारा आचारमार्ग में लगाने का अधिकारी होता है।—

आचिनोति शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥

(ब्रह्माण्डपु०, पूर्वार्ध ३२।३२), (लिङ्गपु०, पूर्वार्ध १०।१५), (लिङ्गपु०, उत्तरार्ध २०।२०)

कथन के विपरीत आचरण करनेवालों के उपदेश सुनकर श्रोतागण उपहास करते हुए गाते हैं—'पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे। ऐसे उपदेशकों के कारण ही आज लोगों का सुधार नहीं हो रहा। इस विषय में बाल्यावस्था में सुनी एक बात याद आती है।—एक सत्संगी के पुत्र को अधिक गुड़ खाने की आदत थी। वे जिस महात्मा के सत्संग में नित्य जाते थे, उनसे प्रार्थना की कि आप पर बालक की श्रद्धा है, आप इसे अधिक गुड़ न खाने का उपदेश कर दीजिये, इससे इसकी आदत छूट जायेगी। महात्मा ने कहा, १५ दिन बाद ले आना, तब उपदेश करेंगे। वे सत्संगी १५ दिन बाद बालक को ले गये। महात्मा ने अधिक गुड़ न खाने का उपदेश दिया। बालक ने अधिक गुड़ खाना तुरन्त छोड़ दिया। तब सत्संगी ने पूछा कि भगवन्! आपने १५ दिन पहले ही उपदेश क्यों नहीं दिया? तब महात्मा ने बताया कि मुझे स्वयं ही अधिक गुड़ खाने की आदत थी, उसे जब छोड़ दिया तब उपदेश दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो स्वयं आचारवान् है, वही उपदेश देने का अधिकारी है, उसीसे लोगों का सुधार होता है। इस विषय में आपका क्या विचार है?

समाधान—दो तरह के उपदेशक होते हैं—(१) सद्गुणों के धारण तथा दुर्गुणों के निवारण में जिनकी जरा भी आस्था नहीं है, केवल पद-पैसा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये ही उपदेश-प्रवचन करते हैं। ऐसे लोग प्रवचन नहीं किन्तु पर-वंचन अर्थात् दूसरों को ठगने का ही काम करते हैं। ऐसे लोग कथा-प्रवचन करने के कदापि

अधिकारी नहीं हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे लोगों की संख्या वर्तमान में बहुत अधिक हो गई है, जिससे लोगों को यह कहते हमने अपने कानों से सुना है कि 'यार, सब व्यापार है', 'इनका उपदेश उसी प्रकार का है जैसे वेश्या द्वारा पातिव्रतधर्म का उपदेश करना।'

(२) सद्गुणों के धारण तथा दुर्गुणों के निवारण में जिनकी पूरी आस्था है तथा प्रयास भी करते हैं, किन्तु जिन सद्गुणों का अभाव तथा दोषों का सद्भाव स्वभाव में प्रवेश कर गया होने के कारण दीर्घकालीन साधना की अपेक्षा रखता है। इसलिये वर्तमान में प्रयास करते हुए भी वे सफल नहीं हो पाते। ऐसे उपदेशक शास्त्र-प्रमाणानुसार जो उपदेश देते हैं, वह उनके आचरण में न होने पर भी उसे प्रवचन में कहने के अधिकारी हैं, और उससे श्रोताओं को लाभ भी होगा, क्योंकि वह उनकी अपनी बात नहीं है किन्तु प्रामाणिक शास्त्र की बात है।

जैसे स्वभाव में प्रविष्ट रोग दीर्घकालीन चिकित्सा की अपेक्षा रखता है, इसलिये प्रयास करने पर भी वर्तमान में दूर नहीं होता। ऐसे रोग से स्वयं ग्रसित होने पर भी आयुर्वेदमर्मज्ञ वैद्य उस रोग की निवृत्ति के लिये दूसरों को उपदेश देने का अधिकारी होता है, उससे लोगों को लाभ भी होता है, क्योंकि वह उसकी अपनी बात नहीं है किन्तु प्रामाणिक आयुर्वेदशास्त्र की है।

'आचरणशील आचार्य उपदेश करे' यह ठीक है, परन्तु 'आचरण में न होने से ही लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ता' यह बात कहना सर्वथा सत्य नहीं, क्योंकि जो उपदेशक मद्य-मांस सेवन नहीं करते उनके

उस उपदेश का भी सब लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ता। यदि कहें कि उनमें दूसरे दोष हैं इसलिये प्रभाव नहीं पड़ता, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वदोषरहित तथा सर्वगुणयुक्त भगवान् राम-कृष्ण आदि के उपदेश का भी प्रभाव सब लोगों पर नहीं पड़ा। अतः वही मनुष्य उपदेश देने के, कथा-प्रवचन करने के अधिकारी हैं जो सद्गुणों के धारण तथा दुर्गुणों के निवारण में पूरा प्रयास करते हैं और शास्त्रानुसार दूसरों को उपदेश देते हैं तथा अपने आचरण के बारे में भी स्पष्ट शब्दों में स्वयं कहते हैं कि जो हमारे शुभ आचरण हैं उन्हें ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, हमारे अशुभ आचरण का सेवन नहीं करना चाहिये। ऐसे लोगों को श्रुति में आचार्य माना है।—

'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद धर्मं चर……'

'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि' (तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक ११)

अर्थ—वेदों का उच्चारण कराके अर्थात् वेदाध्ययन कराके आचार्य शिष्य को शिक्षा देता है—'सत्य बोलो', 'धर्म का आचरण करो'। जो हमारे शुभ आचरण हैं, उन्हींका तुम सेवन करना, दूसरों (अशुभ) का सेवन नहीं करना।

ऐसा न मानने पर कोई भी मनुष्य उपदेश देने का अधिकारी न होगा क्योंकि सम्पूर्ण सद्गुणयुक्त तथा सम्पूर्ण दुर्गुणमुक्त भगवान् के सिवाय और कोई मानव नहीं हो सकता।

ॐ

शास्त्रीय दान-विधि

शंका—शास्त्रों में छोटे-छोटे दानों का भी महान् फल बताया है, परन्तु हमने बड़े-बड़े दान किये, उनका छोटा-सा भी फल देखने में नहीं आया। इतना ही नहीं, हम और अधिक सङ्कटग्रस्त हो गये। इसका क्या कारण है? बताने की कृपा करें।

समाधान—शुद्धद्रव्य, सुपात्र, सुदेश, सुकाल, सात्त्विक श्रद्धा आदि नीचे लिखी शास्त्रकथित विधि से जो दान दिया जाता है, उस दान का भी फल प्रायः जन्मान्तर में ही मिलता है। इस जन्म में तो किसी अति उत्कृष्ट दान का ही फल प्राप्त होता है। दान करते हुए भी अधिक सङ्कटग्रस्त होने का कारण जन्मान्तर का पाप ही होता है। शास्त्रकथित दान का फल प्राप्त करने के लिये नीचे लिखी विधि को पूर्णतया पालन करना चाहिये।—

शुद्धद्रव्य—स्कन्दपुराण में कहा है कि न्याय से उपार्जित धन का दसवाँ अंश ईश्वर की प्रसन्नता के लिये बुद्धिमान् दानादि कार्यों में लगाये। देवीभागवतपुराण में कहा है कि अन्याय से उपार्जित द्रव्य से जो शुभकर्म दानादि किया जाता है, उससे न तो इस लोक में कीर्ति होती है और न परलोक में ही उसका फल होता है। इसलिये न्याय से उपार्जित धन से ही दानादि शुभकर्म करने चाहिये।—

न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमता।
कर्तव्यो विनियोगश्च ईश्वरप्रीत्यर्थहेतवे॥

(स्कन्दपु० १।१।१२।३२)

अन्यायोपार्जितेनैव द्रव्येण सुकृतं कृतम्।
न कीर्तिरिहलोके च परलोके च तत्फलम्॥

(देवीभाग० ३।१२।८), (वृद्धशातातपस्मृ० ६२)

सुपात्र—दान का मुख्य पात्र ब्राह्मण ही होता है। ब्राह्मण से भिन्न को दिये दान को दान न कहकर सहायता-सेवा कहना ठीक होगा। क्योंकि दान लेने का अधिकार मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण को ही बताया है, इसलिये ब्राह्मण ही दान का मुख्य पात्र है। ब्राह्मण में भी जो वेद का विद्वान्, वैदिकधर्म का आचरण करनेवाला, अभावग्रस्त, अयाचक, असंग्रही, तपस्वी आदि जितने अधिक गुणों से युक्त होता है, उसे दिया हुआ दान उतना ही अधिक फल देता है। इसीलिये महाभारत के अनुशासनपर्व में ऐसे ब्राह्मणों को सभी उपायों से निमन्त्रण देने को कहा है।—

कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः॥
क्रियानियमितान् साधून् पुत्रदारैश्च कर्शितान्।
अयाचमानान् कौन्तेय सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत्॥

(महाभा०, अनु० प० ५९।११-१२)

सुदेश—प्रयाग आदि तीर्थों में, मंदिर आदि पुण्यस्थानों में, गङ्गादि पुण्यनदी-तटों में तथा वृन्दावन आदि पुण्यवनों में दान देने से सामान्य स्थानों की अपेक्षा अनेकोंगुणा फल प्राप्त होता है। ऐसा कूर्मपुराण में कहा है।—

प्रयागादितीर्थेषु पुण्येष्वायतनेषु च।
दत्त्वाऽक्षयमाप्नोति नदीषु वनेषु च॥

(कूर्मपु० २।२६।५४)

इसके अतिरिक्त जिस देश में जिस वस्तु का अभाव हो, वह देश तीर्थादिरूप न होने पर भी उस देश में उस वस्तु का दान देना भी सुदेश में ही दान करना माना जाता है।

सुकाल—वैशाखशुक्ल तृतीया (अक्षयतृतीया), कार्तिकशुक्ल नवमी (अक्षयनवमी) आदि युगों की प्रारंभ-तिथियाँ, पूर्णिमा, अमावस्या, एकादशी, कुंभ, दक्षिणायन-उत्तरायण की सन्धि, मास की संक्रान्ति, विषुवयोग, चन्द्र-सूर्यग्रहण आदि शुभकाल में दिया दान महान् फल प्रदान करता है।—

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
सङ्क्रादिकालेषु दत्तं भवति चाक्षयम्॥

(कूर्म० २।२६।५३)

इसके अतिरिक्त जिस काल में, जिसको, जिस वस्तु का अभाव हो, उसे, उस वस्तु का, उस काल में देना भी शुभकाल में देना माना जाता है। भले ही वह काल ऊपर लिखे कालों से भिन्न हो।

जिस काल में धन हो, श्रद्धा का उदय हो, दानकार्य में सहायक हो, सुपात्र की प्राप्ति हो, वह काल दान के लिये शुभकाल है। ऐसा भविष्यपुराण में कहा है। इसमें हेतु बताया है कि जीवन अनित्य है, कब मरण हो जाय, इसका कुछ पता नहीं है।

यदा वा जायते वित्तं चित्तं श्रद्धा समन्वितम्।
तदैव दानकालः स्यात् यतोऽनित्यं हि जीवितम्॥
वित्तं श्रद्धा सहायश्च पात्रप्राप्तिस्तथैव च।
दानकालः तदैवेह कथितस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(भविष्यपु० ४।१६३।६/४।१९३।४)

ऊपर लिखी सभी बातों पर ध्यान रखकर विधिपूर्वक सङ्कल्प करके जो व्यक्ति दानादि शुभकर्म करता है, उसका छोटा-सा शुभ-कर्म मेरु के समान महान् फल प्रदान करता है। जो व्यक्ति विधि का त्यागकर मेरुसमान महान् शुभकर्म करता है, उसे अणु के समान थोड़ा-सा फल मिलता है। ऐसा पद्मपुराण में स्पष्ट कहा है।—

यथोक्तं कुरुते वस्तु विधिवत् सुकृतं नरः।
स्वल्पं मुनिवरश्रेष्ठ मेरुतुल्यं भवेत् फलम्॥
विधिहीनं तु यः कुर्यात् सुकृतं मेरुमात्रकम्।
अणुमात्रं तदाप्नोति फलं धर्मस्य नारद॥

(पद्मपु० ६।६२।१३-१४)

अन्नदान की विशेषता—अन्नदान के बारे में विष्णुधर्मोत्तर-पुराण में कहा है कि अन्नदान करने के लिये पात्र, काल, नियम, देश आदि की परीक्षा करना आवश्यक नहीं, सदा सबको अन्नदान करना चाहिये।—

नात्र पात्रपरीक्षा स्यान्न कालनियमस्तथा ।
न देशः परीक्ष्योऽत्र देयमन्नं सदैव तत् ॥

(विष्णुधर्मोत्तरपु० ३।३१५।२)

अन्नदान में भी यह ध्यान रखना चाहिये कि जो डाकू आदि पापाचारी व्यक्ति भूखे होने के कारण मरे जैसे पड़े हैं, भोजन खाकर समर्थ होकर डाका डालने की तैयारी करना चाहते हैं, उन्हें अन्न का भी दान नहीं करना चाहिये। क्योंकि अन्न खाकर वे पापकर्म करेंगे इससे उनको नरक जाना पड़ेगा और अन्नदाता को भी दोष होगा। इसीलिये विष्णुधर्मोत्तरपुराण में ही वहीं अगले अध्याय में कहा है कि पापशील को कभी कुछ भी नहीं देना चाहिये। पापशील को जो देता है, उससे दाता को भी दोष लगता है।—

पापशीले न दातव्यं कदाचिदपि किञ्चन ।
पापशीले तु यद्दत्तं तद्दातुर्दोषमावहेत् ॥

(विष्णुधर्मोत्तरपु० ३।३१६।३)

महाभारत में भी कहा है कि 'दया से व्रत (शुभकर्म) रहित

और हीन को भी देना चाहिये। किन्तु दया से अपकारी (अशुभ-कर्म करनेवाले) दीन को भी नहीं देना चाहिये।—

अनुक्रोशात् प्रदातव्यं हीनेष्वव्रतकेषु च ।
न वै देयमनुक्रोशाद् दीनायाप्यपकारिणे ॥

(शान्तिपर्व ३६।४३-४४)

दान का सामान्य नियम—जिस व्यक्ति के लिये, जिस देश में, जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उस व्यक्ति को, उसी देश में, उसी काल में, उसी वस्तु का दान देना चाहिये। जो वस्तु लोक में श्रेष्ठ हो, घर में प्रिय हो, उसे गुणवान् को देना चाहिये। जो अधिक फल चाहता हो। ऐसा विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा है।—

यस्योपयोगि यद्द्रव्यं देयं तस्यैव तद्भवेत् ॥

(विष्णुधर्मो० ३।३१६।११)

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चापि दयितं गृहे ।
तत्तत् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥

(विष्णुधर्मो० ३।३१५।१४), (कूर्मपु० उत्तरार्ध २६।५२)

ऊपर लिखी दानविषयक सभी बातों को भगवान् ने संक्षेप में गीता में एक ही श्लोक द्वारा कह दिया—'दान देना मेरा कर्तव्य है', इस भाव से उपकार की भावना से रहित व्यक्ति द्वारा देश,

काल, पात्र का विचार करके जो दान दिया जाता है, वह दान सात्त्विक है।—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

(गीता १७।२०)

ॐ

अष्टादशपुराणों में त्रिदेवों की एकता

अष्टादशपुराणों का पारायण करते समय ब्रह्मा-विष्णु-महेश की एकता का कथन करनेवाले अनेकों वचन मिले। लेख का अतिविस्तार न हो इसलिये प्रत्येक पुराण के एक-दो श्लोक ही अर्थ-सहित दे रहा हूँ, अन्यश्लोकों की जानकारी के लिये अध्याय, संख्या आदि लिख रहा हूँ। जिन विद्वानों को देखना हो वे मूलग्रन्थों में देख सकते हैं।

गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो ।
धत्से यदा स्वदृग् भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥

(भाग० ८।७।२३, गीताप्रेस)

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।

(भाग० ४।७।५४, गीताप्रेस)

अर्थ—हे विभो ! हे स्वयंप्रकाश ब्रह्म ! इस संसार की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के लिये अपनी गुणमयी शक्ति द्वारा ब्रह्मा-विष्णु-शिव नाम धारण करते ही एकभावरूप (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) इन तीनों में जो भेद नहीं देखता।

एवं ज्ञात्वा वरारोहे ह्यभिन्नेनान्तरात्मना ।
ब्रह्माणं केशवं रुद्रमेकरूपेण पूजयेत् ॥

(स्कन्दपु० ७।१।१०५।७४, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६६)
(२।४।३।१६) (६।२४७ १०-११-१४) (७।१।१०५।७३)

अर्थ—हे वरारोहे ! ऐसा जानकर अभिन्न मन से ब्रह्मा-केशव (विष्णु) -रुद्र की एकरूप से पूजा करे ।

त्रयाणामपि देवानामन्तरं नास्ति शोभने ॥

(पद्मपु० २।८८।४३)

यो विष्णुः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्मा स स्वयं हरः ।

(पद्मपु० ५।९८।८८), (वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८४)
(पद्मपु० १।८०।२०), (२।८८।४४), (६।८८।४४)

अर्थ—हे शोभने ! तीनों देवों में अन्तर नहीं है । जो विष्णु वही ब्रह्मा जो ब्रह्मा वही स्वयं शङ्कर हैं ।

हरिशङ्करयोर्मध्ये ब्रह्मणश्चापि यो नरः ।
भेदं करोति सोऽभ्येति नरकं भृशदारुणम् ॥
हरं हरिं विधातारं यः पश्यत्येकरूपिणम् ।
स याति परमानन्दं शास्त्राणामेष निश्चयः ॥

(नारदपु०, पूर्वार्ध ६।४८।४९, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८०)
पूर्वार्ध २।२८/५।७२ / उत्तरार्ध ४३।९२ / ५९।२४-३३-३४-४६-४७)

अर्थ—हरि, शङ्कर और ब्रह्मा के मध्य जो नर भेद करता है, वह भयङ्कर नरक में जाता है । हर, हरि और ब्रह्मा को जो एक-रूप देखता है, वह परमानन्द को प्राप्त होता है, शास्त्रों का यही निश्चय है ।

यो विष्णुः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्माऽसौ महेश्वरः ॥
यो भेदं कुरुतेऽस्माकं त्रयाणां द्विजसत्तम ॥
स पापकारी दुष्टात्मा दुर्गतिं समवाप्नुयात् ॥

(वाराहपु० ७०।२६-२७-२८, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८०)

अर्थ—जो विष्णु वही स्वयं ब्रह्मा, जो ब्रह्मा वही महेश्वर (शिव) हैं । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! जो हम तीनों में भेद करता है, वह पापकर्त्ता दुष्टात्मा दुर्गति को प्राप्त होता है ।

ब्रह्मा भूत्वाऽसृजत् विष्णुः जगत् पाति हरिः स्वयम् ॥
रुद्ररूपी च कल्पान्ते जगत्संहरते प्रभुः ॥
ब्रह्माविष्णुशिवान् देवान् न पृथक् भावयेत् सुधीः ॥

(गरुडपुराण, पूर्वार्ध ८।११/२०५।७४, कलकत्ता,
सरस्वती प्रेस, सन् १८९०)

अर्थ—प्रभु ने ब्रह्मा होकर जगत् की रचना की, हरि (विष्णु) रूप से स्वयं पालन करते हैं, कल्प के अन्त में रुद्ररूप से जगत् का संहार करते हैं । बुद्धिमान् ब्रह्मा-विष्णु-शिव इन तीनों देवों में पृथक् (भेद) भावना न करे ।

यथा कृष्णस्तथा शम्भुर्न भेदो माधवेशयोः ।

(ब्रह्मवैवर्तपु०, प्रकृतिखण्ड ५६।६१, कलकत्ता बंगवासी स्टीम मेसिन प्रेस, शकाब्द १८१२)

अर्थ—जैसे कृष्ण वैसे शम्भु हैं, माधव और शङ्कर में भेद नहीं।

तस्माद् ब्रह्मा महादेवो विष्णुर्विश्वेश्वरः परः ।
एकस्यैव स्मृतास्तिस्रस्तद्वत् कार्यवशात् प्रभोः ।।

(कूर्मपु०, पूर्वार्ध २।९७-९८, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६२)

अर्थ—हे प्रभो ! इसलिये परात्पर विश्वेश्वर ही ब्रह्मा-शङ्कर-विष्णु हैं। एक के ही कार्यवशात् तीन रूप से स्मरण किये गये हैं।

योऽहं स देवः परमेश्वरस्त्वं योऽहं स देवः प्रपितामहश्च ।

(विष्णुधर्मोत्तरपु०, प्रथमखण्ड ६७।२६, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६९)

अर्थ—जो मैं विष्णु हूँ वही आप महादेव हैं, जो मैं हूँ वही देव ब्रह्माजी हैं।

त्वं शिवस्त्वं हरिर्देव त्वं ब्रह्मा त्वं दिवस्पतिः ।।

(सौरपुराण १।३६, आनन्दाश्रम, पूना, सन् १९२४)

अर्थ—हे देव ! आप शिव, आप ब्रह्मा, आप विष्णु और आप सूर्य हैं।

शिवो ब्रह्मा तथा त्वं न भिन्ना वै कदाचन ।।

(बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड ४१।९६, कलकत्ता बापटीस्ट मिशन प्रेस, सन् १८९७)

अर्थ—शिव, ब्रह्मा और आप (विष्णु) कभी भी भिन्न नहीं।

यो ब्रह्मा स हरिः प्रोक्तो यो हरिः स महेश्वरः ।

(भविष्यपु० ४।२०५।११, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६७)
(भविष्यपु० ४।२।९, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६७)

अर्थ—जो ब्रह्मा वही हरि, जो हरि वही शङ्कर हैं।

ऊपर लिखे पुराण-वचनों से अतिस्पष्ट असन्दिग्धरूप से यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मा-विष्णु-महेश इन तीनों देवों की एकता ही पुराणों को मान्य है। इतना ही नहीं किन्तु नीचे लिखे पुराण-वचनों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि शक्ति-सूर्य-गणेश को भी पुराण ईश्वररूप ही मानते हैं।—

अहं विष्णुश्च शर्वश्च देवी विघ्नेश्वरस्तथा ।
एकोऽहं पञ्चधा जातो नाट्ये सूत्रधरो यथा ।।

(स्कन्दपु० २।४।३।१६, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९६६)

अर्थ—मैं (सूर्य), विष्णु, शिव, देवी तथा गणेश इन पाँच रूपों से मैं ही प्रकट हुआ हूँ, जैसे नाटक में सूत्रधार प्रकट होता है।

शैवाः सौराश्च गणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
मामेव प्राप्नुवन्ति हि वर्षापः सागरं यथा ।।
एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीडयन् नामभिः किल ।।

(पद्मपु० ६।८८।४३-४४, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८४)

अर्थ—शिव, सूर्य, गणेश, विष्णु तथा देवी के पूजक मेरे को

९

ही प्राप्त होते हैं, जैसे वर्षा का पानी सागर को प्राप्त होता है। नामों द्वारा खेल करता हुआ एक मैं ही पाँच रूप में प्रकट होता हूँ।

इन पुराणरूप स्मृतिवचनों के आधार पर ही स्मार्तसम्प्रदाय में पाँचों को ईश्वररूप मानकर पाँचों की समान भाव से उपासना की जाती है।

विष्णु भगवान् को ही सर्वोपरि माननेवाले आधुनिक वैष्णव पुराणों के सात्त्विक, राजस और तामस भेद करके जो ऐसा कहते हैं कि राजस-तामस पुराणों में शिव, शक्ति आदि का महत्त्व अधिक कहा है और उन्हींमें शिवादि की विष्णु के साथ एकता का कथन किया है। उन वैष्णवों से मेरा करबद्ध सविनय निवेदन है कि जिन पद्म-वाराह-भागवत-नारद-गरुड-ब्रह्मवैवर्त-कूर्म-विष्णुधर्मोत्तर आदि पुराणों को वे सात्त्विक पुराण मानते हैं, उनमें भी त्रिदेवों की एकता का कथन ऊपर लिखे पुराणवचनों द्वारा अतिस्पष्ट रूप से किया है, उनको ध्यान से मनन करना चाहिये।

शङ्का—यदि भगवान् विष्णु सर्वोपरि (श्रेष्ठ) नहीं हैं तो वाराहपुराण में उनसे ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति का कथन क्यों किया गया है?—

परो नारायणो देवस्तस्तस्माच्चतुर्मुखः।
तस्माद् रुद्रोऽभवत् देवि स च सर्वज्ञतां गतः॥

(वाराहपु० ९०।३, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८०)

अर्थ—नारायण (विष्णु) भगवान् पर (श्रेष्ठ) देव हैं। इसलिये उनसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उनसे रुद्र उत्पन्न हुए। हे देवि! (विष्णु की कृपा से) सर्वज्ञता को वह प्राप्त हुए।

समाधान—जैसे वाराहपुराण में नारायण (विष्णु) से रुद्र और ब्रह्मा की उत्पत्ति कही है, वैसे ही शिवपुराण में ब्रह्मा-विष्णु की उत्पत्ति शिव से कही है—

ब्रह्माविष्णुमहेशश्च त्रयो देवा शिवाङ्गजा

(शिवपु० २।१।१।१७, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८२)

(स्कन्दपु० १।३।८।१०, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९६६)

अर्थ—ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीनों देव शिव के अङ्ग से उत्पन्न होते हैं।

शङ्का—जब दोनों तरह के वचन पुराणों में पाये जाते हैं, तब यह कैसे निश्चय हो कि कौन किससे उत्पन्न होता है?

समाधान—इस शङ्का का समाधान करते हुए पुराणों में ही कहा है—

ब्रह्मनारायणौ पूर्वं रुद्रः कल्पान्तरेऽसृजत्।
कल्पान्तरे पुनर्ब्रह्मा रुद्रविष्णू जगन्मयः।
विष्णुश्च भगवान् रुद्रं ब्रह्माणमसृजत्पुनः॥

(शिवपु० ७।१३।१७-१८, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८२)

(लिङ्गपु० १।४१।१७-१८, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८१)

अर्थ—कल्पान्तर में रुद्र ने पहले ब्रह्मा और नारायण को उत्पन्न किया। पुनः कल्पान्तर में ब्रह्मा ने रुद्र और विष्णु को उत्पन्न किया। पुनः कल्पान्तर में विष्णु भगवान् ने रुद्र और ब्रह्मा को उत्पन्न किया।

शंका—यदि ये तीनों एकरूप हैं तो इनमें उत्पाद्य-उत्पादकता तथा आराध्य-आराधकता आदि का वर्णन पुराणों में क्यों किया गया है ?

समाधान—इस शङ्का का समाधान पुराणों के विद्वान् दो प्रकार से करते हैं—(१) तीनों एकरूप होते हुए भी जगत् की रक्षा तथा हित के लिये **लीला**मात्र से ऐसा करते हैं।

आराध्याराधकादिश्च भेदः सामान्य एव नौ ॥

भेदं च तारतम्यं च मूढा एव वितन्वते ॥

(स्कन्दपु० ७।१।२४।१०-१८, वेङ्कटेश्वर, प्रेस, सं० १९६६)

अर्थ—हम दोनों में आराध्य-आराधक (उत्पाद्य-उत्पादक) आदि भाव सामान्य ही है। मूर्ख ही भेद और तारतम्य की कल्पना करते हैं।

अन्योन्यमनुरक्तास्ते ह्यन्योन्यमुपजीविनः ।

अन्योन्यप्रणताश्चैव लीलया परमेश्वराः ॥

(कूर्मपु० १।२।९१-९२, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६२)

अर्थ—ये (तीनों) परमेश्वर **लीला** से एक-दूसरे में अनुरक्त, एक-दूसरे के उपजीवी, एक-दूसरे के सामने प्रणाम करते हैं।

लोकानां हितार्थाय पृथक्भूता युगे युगे ॥

तथा लोकस्य रक्षार्थं चरामो विधिपूर्वकम् ॥

(पद्मपु० १।८०।२०-२१, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८४)

अर्थ—लोकों के हित तथा रक्षा के लिये युग-युग में पृथक् रूपों से विधिपूर्वक आचरण करता हूँ।

(२) ब्रह्मा-विष्णु-शिव का वर्णन पुराणों में **पर** और **अपर** दो रूपों में आता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड के उत्पादक-पालक-संहारक ब्रह्मा-विष्णु-शिव को **पर** ब्रह्मा-विष्णु-शिव कहते हैं। एक-एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक-पालक-संहारक ब्रह्मा-विष्णु-शिव को **अपर** ब्रह्मा-विष्णु-शिव कहते हैं। इनमें से **पर** ब्रह्मा-विष्णु-शिव में उत्पादकता तथा आराध्यता का और **अपर** ब्रह्मा-विष्णु-शिव में उत्पाद्यता तथा आराधकता आदि का वर्णन पुराण करते हैं। ये अपर ब्रह्मा-विष्णु-शिव प्रत्येक ब्रह्माण्ड में पृथक्-पृथक् होते हैं। ब्रह्माण्ड अनन्त होने से ये **अपर** ब्रह्मा-विष्णु-शिव भी अनन्त हैं। ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति-विनाश के साथ इनका और इनके लोकों का भी जन्म-विनाश होता है। ऐसा पुराणों में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

सर्वे यान्ति विलयं ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥

(स्कन्दपु० ३।१।४८।३१, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९६६)

(लिङ्गपु० १।४।५४-५५, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८१)

ब्रह्मनारायणेशानां त्रयाणां प्रकृतौ लयः ।
प्रोच्यते कालयोगेन पुनरेव च सम्भवः ।।

(कूर्मपु० १।५।२१, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९६२)

अर्थ—ब्रह्मा-विष्णु-शङ्कर सभी विलीन होते हैं।

ब्रह्मा-नारायण (विष्णु) ईश (शङ्कर) इन तीनों का प्रकृति में लय हो जाता है। पुनः काल के योग से इनका जन्म होता है।

शंका—नीचे लिखे श्लोकों में वैकुण्ठलोक तथा ब्रह्मलोक से पुनरागमन (पतन) और अपतन दोनों बातें कही हैं, सो किस दृष्टि से कही हैं ?

वैकुण्ठे मोदते सोऽपि यावद्वै ब्रह्मणो वयः ।।
भारतं पुनरागत्य हरिभक्तिं लभेद् ध्रुवम् ।।
पुनर्याति च वैकुण्ठं न तस्य पतनं भवेत् ।।

(ब्रह्मवैवर्तपु० २।२७।९५-९६, कलकत्ता, बङ्गवासि स्टीम मेसिन प्रेस, शकाब्द १८१२)
(देवीभागवत ९।३०।६१-११४ (वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८८)
(पद्मपु० ७।१४।२७), नारदपु०, पू० २०।७७।७९)

अर्थ—ब्रह्मा की आयुपर्यन्त वैकुण्ठ में आनन्द करता है, पुनः भारत में आकर निश्चय ही हरिभक्ति प्राप्त करता है, पुनः वैकुण्ठ में जाता है, फिर (वैकुण्ठ से) उसका पतन नहीं होता।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।।

(गीता ८।१६)

हैरण्यगर्भं तत्स्थानं यस्मान्नावर्तते पुनः ।।

(कूर्मपु० १।२।७३, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९६२)

अर्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ति हैं। जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता वह हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) का स्थान (लोक) है।

समाधान—ऊपर बताये अनुसार अपर ब्रह्मा-विष्णु के लोक-विनाशी होने से उनसे पतन का कथन किया गया है, एवं पर ब्रह्मा-विष्णु अविनाशी होने से उनके लोकों से अपतन का कथन किया गया है।

शंका—यदि ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीनों एक ही हैं तो नीचे लिखे पुराणवचनों में किसीको मुक्तिदाता, किसीको अमुक्तिदाता क्यों कहा है ? और इनकी एकता माननेवालों की निन्दा क्यों की गयी है ?

मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः ।
मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ।।

(हरिवंश, भविष्यपर्व ८०।३०, गीताप्रेस), (भाग० १०।५१।२०)

एक एव हि विश्वेशो मुक्तिदो नान्य एव हि ।।

(स्कन्दपु०, काशीखण्ड ८४।५४/९५।८, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९६६)

अर्थ—मुक्ति की प्रार्थना करनेवाले मुझसे शङ्करजी ने कहा कि सभी को मुक्ति देनेवाले विष्णुजी ही हैं, इसमें संशय नहीं।

एक शङ्करजी ही मुक्ति देनेवाले हैं, दूसरा कोई नहीं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदेवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाखण्डी भवेद्ध्रुवम्॥

(पद्मपु० ६।२३५।११, वेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९८४)

अर्थ—जो ब्रह्मा-रुद्र आदि देवताओं के साथ नारायण (विष्णु) भगवान् को समान देखता है, वह निश्चय ही पाखण्डी होता है।

समाधान—ऊपर बताया गया है कि **पर-अपर** भेद से ब्रह्मा-विष्णु-महेश दो प्रकार के होते हैं। इनमें से **पर** विष्णु को मुक्तिदाता तथा अपर शिव को अमुक्तिदाता कहा है, एवं **पर** विष्णु-भगवान् के साथ अपर ब्रह्मा-शिव को समान माननेवाले की निन्दा की गयी है। **पर** ब्रह्मा-विष्णु-महेश की तो एकता ऊपर दिये अनेक पुराणवचनों से सिद्ध ही है। इसे और अधिक समझने के लिये मेरे द्वारा लिखे 'परात्परब्रह्मरूपाशक्ति', 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश में श्रेष्ठ कौन?', 'ब्रह्मा-विष्णु-शिव भिन्न या अभिन्न?' ये तीन-लेख भी अवश्य पढ़ने चाहिये।

सूचना—प्रेस-भेद से तथा संस्करण-भेद से अध्याय-श्लोक-संख्या में अन्तर पाया जाता है। अतः लिखित पुराणवचन लिखित प्रेस से लिखित सन्-संवत् में प्रकाशित पुराणों में ही देखने का कष्ट करें।

ॐ

शुभसन्तान-प्राप्ति का शास्त्रीय उपाय

शङ्का—वर्तमान में अशुभसन्तानें बहुत उत्पन्न हो रही हैं, जिससे व्यक्ति, परिवार और समाज में सर्वत्र अशान्ति व्याप्त हो रही है। इसका क्या कारण है? इससे बचकर शुभसन्तान की प्राप्ति का कोई उपाय हो तो बताने की कृपा कीजिये।

समाधान—अशुभविवाह, अशुभरीति से गर्भाधान, अशुभ खान-पान, अशुभशिक्षा-दीक्षा आदि कारणों से अशुभसन्तान उत्पन्न होती है। इससे बचकर शुभसन्तान उत्पन्न करने का उपाय शास्त्रीय विधि से शुभविवाह, शुभविधि से गर्भाधान, शुभ खान-पान, शुभशिक्षा-दीक्षा आदि पर ध्यान देना है। इन्हीं का यहाँ पर संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है।—

शुभविवाह—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥
सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत्॥

(मनुस्मृति ३।५-१२-४२)

अर्थ—अपने माता-पिता के समान गोत्र तथा पिण्डवाली न हो, ऐसी कन्या विवाह-मैथुन में द्विजातियों के लिये श्रेष्ठ होती है। द्विजातियों के लिये अपनी जाति की कन्या विवाह के लिये श्रेष्ठ होती है। (शास्त्रविधि से माता-पिता द्वारा किये गये) अनिन्दित विवाहों से अनिन्दित सन्तान होती है। (प्रेमविवाह आदि से किये गये) निन्दित विवाहों से निन्दित सन्तान होती है।

शुभभाव से गर्भाधान—

यादृशेन हि भावेन योनौ शुक्रं समुत्सृजेत् ।
तादृशेन हि भावेन सन्तानं संभवेदिति ॥

(नारदपु० १।२७।२९), (गरुडपु० २।२२।१८)

अर्थ—जिस भाव से योनि में वीर्य डाला जाता है, उस भाव से युक्त सन्तान होती है। इसलिये मनुष्य को गर्भाधान करते समय जैसे सुपुत्र की इच्छा हो वैसे शुभभाव से युक्त होना चाहिये। पुराणों में तो इसके अनेकों उदाहरण हैं ही। वर्तमान में एक महात्मा के बारे में मुझे बताया कि उनके माता-पिता ने गर्भाधान-काल में यह भावना की थी कि इससे जो सन्तान होगी, उसे महात्माओं को दे देंगे। उनकी भावना के अनुसार वैसा ही पुत्र हुआ।

शुभकाल में गर्भाधान—

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥

(मनुस्मृति ४।१२८)

अर्थ—अमावस्या, अष्टमी, पूर्णमासी, चतुर्दशी, इन चार तिथियों में ऋतुकाल होने पर भी द्विज को ब्रह्मचारी रहना चाहिये।

इन निषिद्ध तिथियों में तथा सूर्य-चन्द्रग्रहणकाल में, सन्ध्याकाल में और दिन में गर्भाधान करने से अशुभसन्तान होती है। सन्ध्याकाल में गर्भधारण के कारण ही रावण-कुम्भकर्ण, हिरण्यकश्यपु-हिरण्याक्ष दुष्टों की उत्पत्ति हुई थी। ऐसा पुराणों में कहा है। इसलिये इन अशुभकालों में गर्भाधान नहीं करना चाहिये।

गर्भकाल में माता की भावना—जब गर्भ में सन्तान होती है, उस काल में माता जैसी सात्त्विक-राजस-तामस भावना से भावित रहती है, जैसा अच्छा-बुरा देखती, सुनती, पढ़ती, खाती-पीती है, उन सबका गर्भ में स्थित सन्तान पर प्रभाव पड़ता है। इसलिये गर्भवती स्त्री को राजस-तामस भावों से बचकर सात्त्विक भावनायें करनी चाहिये। गन्दे सिनेमा-टेलीविजन-पोस्टर न देखकर सात्त्विक देवदर्शन, सन्तदर्शन आदि ही करना चाहिये। गन्दे गीत सुनना-गाना छोड़कर सात्त्विक भजन-कीर्तन ही सुनना-गाना चाहिये। गन्दे उपन्यास पढ़ना-सुनना-सुनाना छोड़कर सात्त्विक रामायण, भागवत आदिग्रन्थ ही पढ़ना-सुनना-सुनाना चाहिये। राजस-तामस-मांस-मदिरा-अण्डा-प्याज-लहसुन-अतितीक्ष्ण मिर्च-मसाला छोड़कर सात्त्विक दूध-घी-दाल-रोटी आदि ही खाना-पीना चाहिये।

गर्भकालीन भावना का सन्तान पर प्रभाव पड़ता है, इसमें प्रमाण प्रह्लादजी का चरित्र है। भागवत स्कन्ध सात के सातवें

अध्याय में जब दैत्यबालकों ने प्रह्लादजी से पूछा कि हम-तुम एक ही गुरु से पढ़े हैं, आपको यह ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ ? तब प्रह्लादजी ने कहा कि जब मैं गर्भ में था तब मेरी माता को नारदजी ने ज्ञान सुनाया था, तब नारदजी की दृष्टि मेरे ऊपर भी रहती थी। अतः गर्भ में ही मैंने यह ज्ञान प्राप्त किया था।

जन्मोत्तर शिक्षादि—ऊपर लिखे 'गर्भकाल में माता की भावना' नाम के शीर्षक में जिन सात्त्विक बातों के सेवन का तथा राजस-तामस बातों के त्याग का विधान किया है, उनका सेवन और त्याग सन्तानों से भी कराना चाहिये। तभी गर्भकाल में की गयी माता की भावनाओं को प्रकट होने में सहायता होगी। नहीं तो राजस-तामस बातों का सेवन कराने से वे सात्त्विक भावना-रूप बीज नष्ट हो जायँगे। यह नहीं समझना चाहिये कि ये अभी छोटे बच्चे हैं, कुछ समझते ही नहीं अतः जो देखते, सुनते, गाते हैं, उनका इन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। यद्यपि यह सत्य है कि ३-४-५ वर्ष के बच्चे गन्दे चित्रों तथा गन्दे गीतों का भाव बिलकुल नहीं समझते, फिर भी उसका प्रभाव तो पड़ता ही है। इसमें प्रत्यक्ष-प्रबलप्रमाण यह है कि गन्दे चित्रों को देखने तथा गन्दे गीतों को गानेवाले बच्चों को युवा-अवस्था से पूर्व ही वे बातें समझ में आने लगती हैं। जब यह बातें मैंने कुछ लोगों से कहीं, तो उन्होंने अपने प्रत्यक्ष अनुभव से बताया कि युवावस्था से पूर्व १५ वर्ष की अवस्था की बात तो बहुत दूर की है, ८-१० वर्ष की अवस्था में ही समझने लगते हैं और वैसी चेष्टायें भी करने लगते हैं।

बच्चों का हृदय गीली मिट्टी के लोंदे के समान होता है, उसे जैसे साँचे में डाला जायगा वैसे बन जायँगे। बाल्यावस्था में डाले सात्त्विक संस्कारों का कोई विरोधी संस्कार न होने से उनका इतना गहरा प्रभाव होता है कि जीवनभर उसका प्रभाव रहता है। यही कारण है कि राजस-तामस संस्कार बाल्यावस्था में पड़ जाने के बाद सात्त्विक संस्कार बलपूर्वक डालने पर भी उनका गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये प्रारंभ से बच्चों में सात्त्विक संस्कार डालना चाहिये।

शुभसन्तान-प्राप्ति के लिये ऊपर लिखी सभी बातों का पालन होना चाहिये। इसके अतिरिक्त शुभसन्तान की प्राप्ति में जन्मा-न्तरीय कर्मरूप प्रारब्ध भी हेतु होता है, परन्तु उस पर पुरुष का पुरुषार्थ कार्य नहीं कर सकता, इसलिये उसकी चर्चा नहीं की है।

पुत्र या पुत्री की उत्पत्ति

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥
पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ॥

(मनुस्मृति ३।४६-४७-४८-४९)

अर्थ—स्त्रियों का ऋतुकाल स्वाभाविक सोलह रात्रियों का होता है। उनमें से प्रथम की चार रात्रियाँ तो निन्दित हैं। (चार दिन तो स्त्री का स्पर्श भी नहीं करना चाहिये।) ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रि को भी छोड़कर बाकी १० रात्रियाँ (गर्भाधान के लिये) अच्छी हैं। युग्म ६-८-१०-१२-१४-१६ संख्यावाली रात्रियों में (गर्भाधान करने से) पुत्र उत्पन्न होते हैं। अयुग्म ७-९-१५ संख्यावाली रात्रियों में (गर्भाधान करने से) पुत्री की उत्पत्ति होती है। इसलिये पुत्र की इच्छावाला युग्म रात्रियों में स्त्री के पास जाय। पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुत्र उत्पन्न होता है और स्त्री का बीज अधिक होने पर पुत्री की उत्पत्ति होती है।

सामान्यनियमानुसार युग्म रात्रियों में पुरुष का वीर्य और अयुग्म रात्रियों में स्त्री का बीज अधिक बलवान् होता है। इसलिये युग्म में पुत्र और अयुग्म में पुत्री की उत्पत्ति बतायी है। मुख्य नियमानुसार तो पुरुष का वीर्य अधिक बलवान् होने पर ही पुत्र की उत्पत्ति होती है और स्त्री का बीज अधिक बलवान् होने पर पुत्री की उत्पत्ति होती है। इसलिये पुत्र की इच्छावाले को घी-दूध-बादाम आदि वीर्यवर्धक पदार्थों का सेवन अधिक करना चाहिये और पुत्री की इच्छा हो तो स्त्री को घी-दूध-बादाम आदि अधिक खिलाना चाहिये। इस प्रकार वीर्य और बीज को अधिक बलवान् बनाकर पुत्र या पुत्री की इच्छा से क्रमशः युग्म और अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान करना चाहिये। १२ बजे रात्रि

से पहले मासिक हो तो प्रथम दिन में, बाद में हो तो अगले दिन में गिनना चाहिये।

परीक्षा द्वारा वीर्य और बीज बलवान् सिद्ध होने पर भी सन्तान न होती हो तो इसमें प्रारब्धकर्म को बाधक मानकर उसकी निवृत्ति के लिये योग्य ज्योतिषी से पूछकर अनुष्ठान कराना चाहिये, अथवा नीचे लिखी रीति से रामचरितमानस का स्वयं पति-पत्नी को पाठ करना चाहिये।

गीताप्रेस-प्रकाशित रामचरितमानस में लिखी पारायण-विधि से आवाहन-पूजन आदि करके—

'एक बार भूपति मन माहीं।
भै गलानि मोरे सुत नाहीं॥'

(बाल० १८८।१)

इस चौपाई से पाठ प्रारंभ करें। उत्तरकाण्ड समाप्त करके बालकाण्ड से पढ़ते हुए

'दशरथ पुत्र जन्म सुनि काना।
मानहुँ ब्रह्मानन्द समाना॥

(बाल० १९३।३)

इस चौपाई पर पाठ समाप्त करें। इस प्रकार ११ पाठ रामायण के करें। एक पाठ-समाप्ति पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार १ या ११ या २१ पुत्रवाले ब्राह्मणों को भोजन कराके दक्षिणा दें और प्रणाम करके उनसे पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद माँगें। ब्राह्मण-भोजन, दक्षिणा आदि में कंजूसी न करें।

पाठ अपनी सामर्थ्य और समय के अनुसार नवाह्न या मासिक करें। इतना भी न हो सके तो एक या आधा घण्टा **नियम** से रोज करें। चार दिन जब स्त्री को पाठ न करना हो तब वह बैठकर सुने। इसी प्रकार पति या पत्नी बीमारी आदि कारणों से पाठ न कर सकें तो एक पाठ करे, दूसरा सुने। पुत्र उत्पन्न होने पर सामर्थ्य के अनुसार दान-पुण्य करें। दान-पुण्य-ब्राह्मण-भोजन आदि कार्यों में न्याययुक्त कमाई का पैसा ही लगाना चाहिये, तभी पुण्य उत्पन्न होगा, अन्यथा नहीं।

सन्ताननिरोध का उपाय

ऊपर लिखे मनुस्मृति श्लोक के अनुसार स्त्रियों का ऋतुकाल १६ दिन ही रहता है। इन १६ दिनों तक गर्भ का द्वार खुला रहता है, बाद में बन्द हो जाता है। इसलिये १६ दिन के बाद मैथुन करने पर वीर्य का प्रवेश गर्भाशय में नहीं होने के कारण गर्भ नहीं रहता। अतः जो लोग अधिक सन्तानें स्वयं नहीं चाहते या सरकार के परिवार-नियोजन कार्य में सहकार करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि १६ दिन के बाद ही मैथुन करें। यदि एक साथ रहकर १६ दिन तक ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ हों तो १६ दिन अलग रहें। इस प्रकार सन्ताननिरोध करने से कोई हानि नहीं होगी और आधुनिक सन्ताननिरोध के उपायों से होनेवाली हानि से बच जायँगे।

ॐ

श्राद्ध-दानादि से शुभगति

शङ्का—शास्त्रों में ऐसा कहा है कि क्या मरे हुए व्यक्ति के लिये श्राद्ध-दानादि करने से उसकी शुभगति होती है? शुभदेश-काल में मरण से, ऊपर के अङ्गों से प्राण निकलने से तथा काशीमरण से मुक्ति होती है? यदि कहा है तो उनका तात्पर्य क्या है? शास्त्रप्रमाणपूर्वक बताने की कृपा करें।

समाधान—श्राद्ध-आदि से शुभगति होती है, ऐसा शास्त्रों में अवश्य कहा है। देखिये—

आत्मजोऽप्यन्यजो वापि गयाभूमौ यदा तदा।
यन्नाम्ना पातयेत् पिण्डं तन्नयेत् ब्रह्म शाश्वतम्॥

(वायुपु० १०५।१४)

गयातीर्थे तु यः पिण्डान् नाम्ना येषां तु निर्वपेत्।
नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षमाप्नुयात्॥

(गरुडपु० १।८४।२७), (वायुपु० ८३।३९)

अर्थ—अपने से उत्पन्न या दूसरे से उत्पन्न पुत्र जब गयाभूमि में जिसके नाम से पिण्डदान करता है, तब उन्हें शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है। गयातीर्थ में जिनके लिये पिण्डदान करता

है, उनमें से नरक में स्थित पितर स्वर्ग को और स्वर्ग में स्थित पितर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

पुराणों में ऐसी कथा आती है कि एक पुत्र ने अपने पिता-पितामह-प्रपितामह के लिये विधिपूर्वक एक श्राद्ध किया। इससे उसके नरक में स्थित पिता नरक से मुक्त हो मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुए और पितामह स्वर्ग से ब्रह्मा के लोक में पहुँच गये तथा प्रपितामह मुक्त हो गये। इस कथा से तथा ऊपर लिखे शास्त्रवचन से भी यह तात्पर्य निकलता है कि विधिपूर्वक श्राद्ध करने से पितर जहाँ हैं वहाँ से उन्हें ऊपर की शुभगति प्राप्त हो जाती है। सभी मुक्त हो जाते हैं, ऐसा तात्पर्य नहीं निकलता।

शुभकाल में मरण—महाभारत शान्तिपर्व में कहा है कि 'सूर्य के उत्तरायण होने पर, पुण्य नक्षत्र-मुहूर्त में जो मरता है, वह पुण्यात्मा है।'—

आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत्।
नक्षत्रे च मुहूर्ते च पुण्ये राजन् स पुण्यकृत्॥

(शान्तिपर्व २९७।२३)

ऊपर-नीचे से प्राण निकलना--पुण्यात्माओं के प्राण ऊर्ध्व (ब्रह्मरन्ध्र) को भेदकर निकलते हैं। मध्यम पुण्यात्माओं के प्राण मध्य (नेत्र-श्रोत्र) से निकलते हैं। पापात्माओं के प्राण नीचे (गुदालिङ्ग) से निकलते हैं।

शीर्षण्श्च सप्तभिश्छिद्रैर्निर्गच्छेत् पुण्यकर्मणाम्।
अधश्च पापिनां यान्ति योगिनां ब्रह्मरन्ध्रतः॥

(स्कन्दपु० १।२।५०।६१), (अग्निपु० ३७१।४)

ऊर्ध्वं भित्त्वा प्रतिष्ठन्ते प्राणा पुण्यवतां नृप।
मध्यतो मध्यपुण्यानामधतो दुष्कृतकर्मणाम्॥

(शान्तिपर्व २९७।२७)

शंका—शुभकाल में मरना तथा शुभ ब्रह्मरन्ध्र से प्राणों का निकलना व्यक्ति के अपने हाथ में तो है नहीं, ऐसी दशा में इन कथनों का क्या तात्पर्य है?

समाधान—इन वचनों का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को चाहिये कि सदा पुण्यकर्म करे, जिससे शुभअङ्ग से, शुभकाल में प्राण जायँ। यदि पापात्मा का प्राण शुभकाल में, शुभअङ्ग से जाय तो यह समझना चाहिये कि जन्मान्तर का पुण्य उदय हुआ है। इसी प्रकार पुण्यात्मा का प्राण अशुभकाल में, अशुभअङ्ग से जाय तो जानना चाहिये कि जन्मान्तर का पाप उदय हुआ है।

शुभदेश में मरण—सभी पवित्र तीर्थों में मरण होने से शुभ-गति का वर्णन तीर्थमहिमा के प्रसङ्ग में शास्त्रों में पाया जाता है। अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्तिका (उज्जैन) एवं द्वारिका इन सात पुरियों को मोक्षदायिनी माना है।

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

(नारदपु० १।२७।३५), (बृहद्धर्मपु० १।५४।६),
(गरुडपु०, उ० २८।३)

काशीमरण के बारे में यह भी कहा है कि 'काशी में पाप करके यदि काशी में ही मर जाय तो रुद्रपिशाच होकर (अर्थात् ३२ हजार वर्ष भैरव-यातना भोगकर) बाद में मुक्त हो जाता है।

कृत्वा हि काश्यां पापानि काश्यामेव म्रियेत चेत् ।
भूत्वा रुद्रपिशाचोऽपि पुनर्मुक्तिमवाप्स्यति ॥

(स्कन्दपु० ४।६।१४१)

व्रतदान से शुभगति—पक्षी-तिर्यग् (पशु आदि) योनि में या राक्षसयोनि में जो चला गया है, उसके उद्देश्य से व्रत (दानादि) करे, तो वह भी परमगति (अर्थात् शुभगति) को प्राप्त होता है।—

वियोनिस्थो राक्षसो वा तिर्यग्योनिगतस्य वा ।
यमुद्दिश्य व्रतं कुर्यात् स गच्छेत् परमां गतिम् ॥

(वाराहपु० १७०।९४)

तात्पर्य यह है कि जीव स्वयं पुण्य करे या उसके लिये कोई दूसरा पुण्य करे, पुण्यकर्म बलवान् होने पर ही हलका होकर ऊर्ध्व (शुभ) गति को जीव जाता है, अन्य प्रकार से नहीं जाता है। ऐसा बृहद्धर्मपुराण में स्पष्ट शब्दों में कहा है।—

पुण्यं बलीयो लाघवाद्धूर्ध्वं गच्छति सर्वथा ।
देही पुण्यमाश्रित्य चोर्ध्वं गच्छति नान्यथा ॥

(बृहद्धर्मपु० १।५६।६)

'पुण्य बलवान् होने पर ही हलका होकर ऊर्ध्व (ऊपर) जाता है' इस कथन से यह तात्पर्य सिद्ध होता है कि यदि पाप अधिक भारी हों तो गङ्गा आदि में मरण होने पर भी नीचे जाता है। यह बात बृहद्धर्मपुराण में वहीं पहले श्लोक में कही भी है।—

अप्यकार्यशतं यस्य गङ्गामरणमेव च ।
पापं तस्य गुरुत्वेन ह्यधोगच्छति जैमिने ॥

(बृहद्धर्मपु० १।५६।५)

ऊपर लिखे श्राद्ध शुभदेश-काल में मरण, व्रत-दानादि के वचनों पर ध्यान देने पर यह तात्पर्य निकलता है कि श्राद्ध आदि से जितना अधिक पुण्य बलवान् होकर जीव जितना हलका होगा, उतनी ही अधिक ऊर्ध्व (शुभ) गति होगी। अतः अधिक ऊर्ध्व (शुभ) गति के लिये अधिक पुण्यकर्म करने चाहिये।

ॐ

कर्मसिद्धान्त सभी को मान्य

शङ्का—ऐसा कौन सिद्धान्त है जो सभी को मान्य है ?

समाधान—कर्मसिद्धान्त सभी को मान्य है। देखिये—

देहात्मवादियों को भी मान्य—भोजन, जलपान, औषधिसेवन, खेती, व्यापार, नौकरी तथा चोरी-व्यभिचार आदि अनैतिक कर्मों का फल क्रमशः क्षुधा, तृषा, रोगनिवृत्ति, अन्न, धन की प्राप्ति होता है तथा चोरी आदि का फल समाजतिरस्कार-दण्डप्रहार-कारागार-प्राणों का अपहार (फाँसी) रूप में प्राप्त होता है, और होना ही चाहिये, ऐसा सभी देहात्मवादी मानते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होने के कारण इन्हीं कर्मफलों को वे मानते हैं। देहभिन्न कर्मकर्ता आत्मा मान्य न होने के कारण शास्त्रीय कर्मों का फल नहीं मानते।

देहभिन्न आत्मवादियों को भी मान्य—देह से भिन्न आत्मा माननेवाले दो प्रकार के हैं—(१) वेद को प्रमाण न माननेवाले जैन-बौद्ध। (२) वेद को प्रमाण माननेवाले न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-उत्तरमीमांसा-पूर्वमीमांसा। ये दोनों ही अपने-अपने मान्य-शास्त्रों के अनुसार शास्त्रीयकर्मों का फल भी मानते हैं। इन दोनों का कहना कि देहात्मवादी चोरी-व्यभिचार का फल पकड़े जाने

पर तो मानते ही हैं, वही कर्म एकान्त में किये जाने पर पकड़े न जाने के कारण फल नहीं देंगे, यह कैसे हो सकता है ? एकान्त में किये चोरी-व्यभिचार आदि का फल न मानने पर लोग इन्हें करते रहेंगे, जिससे समाज में अशान्ति व्याप्त हो जायगी। इसे तो देहात्म-वादी भी नहीं चाहेगा। इसलिये एकान्त में किये जाने के कारण अथवा घूस देकर बच जाने के कारण जिन चोरी आदि कर्मों का फल इस देह में नहीं भोगा गया, उन कर्मों का फल भोगने के लिये देहभिन्न आत्मा को मानना और जन्मान्तर में उन कर्मों का फल वह आत्मा भोगता है, ऐसा मानना अतिआवश्यक है। जन्मान्तर में किस कर्म का क्या फल होता है ? इसकी व्यवस्था प्रत्यक्ष से न हो सकने के कारण शास्त्र को प्रमाण मानना भी आवश्यक है। तब अन्य शास्त्रीय कर्मों का भी फल होता है, ऐसा मानना ही होगा।

आत्म-कर्तृत्ववादियों को मान्य—वेद को प्रमाण न मानने पर भी बौद्ध और जैन जन्मान्तर में कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है, ऐसा अपने-अपने मान्य शास्त्र के अनुसार मानते ही हैं। वेद को प्रमाण माननेवाले दो प्रकार के हैं—(१) आत्मा को कर्ता मानने-वाले न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा में पाँचों वैष्णव, ये सभी आत्मा को कर्ता मानते हैं, अतः कर्ता आत्मा को कर्म का फल मिलेगा ही। इसलिये इन सभी को कर्मवाद मान्य ही है।

आत्म-अकर्तृत्ववादियों को भी मान्य—(२) वेद को प्रमाण

माननेवालों में दूसरे प्रकार के हैं—आत्मा को कर्ता न माननेवाले। सांख्य, योग और उत्तरमीमांसा में शाङ्करवेदान्त, ये सभी आत्मा को कर्ता नहीं मानते। शरीर आदि अनात्मा के साथ अकर्ता आत्मा का सम्बन्ध सांख्य-योग में अविवेक से माना जाता है और शाङ्करवेदान्त में अविद्या से माना जाता है। कुछ आधुनिक भूल से सम्बन्ध मानते हैं। इन सभी के सामने जब यह प्रश्न किया जाता है कि अविवेक, अविद्या, भूल-रूप सामान्य हेतु के रहते भी किस विशेष हेतु के कारण कोई आत्मा नर-शरीर से, कोई आत्मा नारी-शरीर से, कोई आत्मा पशु-पक्षी आदि शरीरों से सम्बन्ध मानता है ? इस प्रश्न का उत्तर सभी यही देते हैं कि जो आत्मा जैसा कर्म करता है, उस आत्मा का उस कर्म के अनुसार मिलनेवाले नर-नारी-पशु-पक्षी आदि शरीरों के साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार नर-नारी आदि भिन्न-भिन्न विचित्र शरीरों के साथ सम्बन्धरूप बन्धन में कर्मसिद्धान्त, आत्मा को अकर्ता माननेवालों को भी मानना ही पड़ता है। श्री शङ्कराचार्यजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—'एकरूप होने के कारण केवल अविद्या विषमता का कारण नहीं। रागादि क्लेशवासना से आक्षिप्त कर्म की अपेक्षा से अविद्या वैषम्यकारी होती है।'—

'न चाविद्या केवला वैषम्यकारणं, एकरूपत्वात्। रागादिक्लेशवासना-आक्षिप्तकर्मापेक्षा तु अविद्या वैषम्यकारी स्यात्' (ब्रह्मसूत्र २।१।३६)

आत्मा को कर्ता न माननेवाले ये सभी अविवेक, अविद्या, भूल के नष्ट हो जाने पर भी **जीवनमुक्ति** की सङ्गति लगाने के लिये भी यही कहते हैं कि जब तक प्रारब्ध**कर्म** रहेगा तब तक नर-नारी आदि शरीरों से सम्बन्ध रहेगा। इस प्रकार नर-नारी आदि शरीरों के साथ सम्बन्धरूप **बन्धन** की तथा **जीवनमुक्ति** की सङ्गति के लिये आत्मा को अकर्ता माननेवालों को भी कर्मसिद्धान्त मान्य है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि कर्मसिद्धान्त सभी को मान्य है।

विद्वानों के लिये विचारणीय—नर-नारी आदि शरीरों से सम्बन्धरूप **बन्धन** में कर्म को भी हेतु मान लेने पर केवल अविवेक, अविद्या, भूल के नष्ट होने से बन्धन का नाश कैसे होगा ? कर्म तो कर्ता आत्मा का ही नर-नारी आदि शरीरों से सम्बन्ध में हेतु हो सकता है, ऐसी दशा में आत्मा अकर्ता कैसे हो सकता है ? अविवेक, अविद्या, भूल मिट जाने पर भी **जीवनमुक्ति** की संगति के लिये नर-नारी आदि शरीरों से सम्बन्ध बने रहने में प्रारब्धकर्म को हेतु स्वीकार करने से क्या कर्मसिद्धान्त की प्रधानता सिद्ध नहीं होती ? विद्वानों से करबद्ध सविनय प्रार्थना है कि इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करें।

ॐ

देह से सम्बन्ध में हेतु

जीवात्मा का देह के साथ सम्बन्ध किस हेतु से है ? इस बात पर गम्भीरता से विचार करनेवाले चार जिज्ञासु परस्पर विवाद कर रहे थे। उसी समय सभी दर्शनशास्त्रों के आधार पर आत्मतत्त्व पर जिन्होंने विचार किया था, ऐसे एक महात्मा उधर से निकले। चारों जिज्ञासुओं ने उठकर उन्हें प्रणाम किया, आसन पर आदरपूर्वक बैठाया। निर्णय जानने के लिये प्रश्न किया। महात्मा ने कहा, आप लोग अपने-अपने विचार मेरे सामने उपस्थित करो। उसे सुनकर यथामति मैं निर्णय देने का प्रयास करूँगा।

प्रथम जिज्ञासु ने कहा—आत्मा अक्रिय, अविनाशी है। देह सक्रिय, विनाशी है। अतः आत्मा का देह से कोई सम्बन्ध है नहीं। भूल से आत्मा देह से सम्बन्ध मानता है। ऐसी दशा में देह के सम्बन्धी माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि से सम्बन्ध भी केवल माना हुआ ही है, यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। देखिये—भिन्न-भिन्न देश तथा परिवार में उत्पन्न नर-नारी, केवल मान लेने के कारण ही पति-पत्नी बन जाते हैं। अतः मेरे विचार के अनुसार देह आदि से केवल भूल से माना हुआ सम्बन्ध है। अतः न मानने मात्र से नष्ट हो जाता है।

द्वितीय जिज्ञासु ने कहा—आत्मा कूटस्थ, व्यापक है। देह अकूटस्थ, अव्यापक है। इस प्रकार दोनों के स्वरूप का विवेक न होने से आत्मा का अविवेक के कारण देह से सम्बन्ध है। दोनों के स्वरूप का यथार्थ विवेक होने पर नष्ट हो जाता है।

तृतीय जिज्ञासु ने कहा—आत्मा अकर्ता-अभोक्ता, असङ्ग ज्ञानरूप है। ऐसे अपने रूप को न जानने के कारण अर्थात् अज्ञान से शरीर और शरीर के धर्म कृशत्व-स्थूल आदि को अपने में अध्यारोप करता है। अतः मेरे विचार के अनुसार देह से सम्बन्ध में आत्मस्वरूप का अज्ञान ही हेतु है। वह अज्ञान आत्मज्ञान से ही नष्ट होता है, अन्य उपायों से नहीं नष्ट होता।

चतुर्थ जिज्ञासु ने कहा—'जिव जबतें हरितें बिलगानो। तबतें देह गेह निज जान्यो।' (विनयपत्रिका १३६) परमभक्त तुलसीदासजी की इस पंक्ति के अनुसार भगवत्-विमुखता ही देहसम्बन्ध में हेतु है। इसलिये भगवत्-सम्मुखतारूप भक्ति से ही देहसम्बन्ध का नाश होगा, अन्य प्रकार से नहीं।

महात्मा ने कहा—आप लोगों के मतानुसार क्रमशः 'भूल', 'अविवेक', 'अज्ञान', 'भगवत्-विमुखता' ये ही देहसम्बन्ध में हेतु हैं। ऐसी दशा में क्या कारण है कि किसी आत्मा का नर-शरीर से, किसी आत्मा का नारी-शरीर से, किसी आत्मा का पशु-पक्षी-शरीर से सम्बन्ध है ?

चारों जिज्ञासुओं ने कहा—महात्माजी ! जिस आत्मा का जैसा प्रारब्धकर्म है, उस आत्मा के उस प्रारब्धकर्म से जो शरीर

उत्पन्न हुआ है, उस शरीर में ही उस आत्मा का सम्बन्ध होता है, अन्य शरीर में नहीं होता।

महात्मा ने कहा—इस प्रकार तो आप लोगों ने देहसम्बन्ध में प्रारब्धकर्म को भी हेतु मान लिया। ऐसी दशा में 'भूल से माने हुए सम्बन्ध को न मानने मात्र से', 'आत्म-अनात्म विवेक से', 'आत्मस्वरूप के ज्ञान से', 'भगवत्-सम्मुखतारूप भक्ति मात्र से' कैसे नष्ट होगा ?

आप लोग यह भी बतायें कि 'भूल', 'अविवेक', 'अज्ञान', 'भगवत्-विमुखता' के नष्ट होते ही शरीर से पूर्ण सम्बन्ध नष्ट हो जाता है क्या ? अर्थात् तत्काल मृत्यु हो जाती है क्या ?

चारों जिज्ञासुओं ने कहा—तत्काल मृत्यु हो जाय तो मेरी 'भूल', 'अविवेक', 'अज्ञान', 'भगवत्-विमुखता' का नाश हो गया, ऐसा किसे अनुभव होगा ? ऐसा अनुभव करनेवाला कोई न हो तो 'ज्ञानी', 'भक्त' किसे कहा जायगा ? 'ज्ञानी', 'भक्त' के बिना मार्गदर्शन कौन करायेगा ? 'वे ज्ञानी तत्त्वदर्शी तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे' (गीता ४।३४) में कहे भगवान् के वचन की सङ्गति कैसे होगी ? इन सबकी सङ्गति के लिये हम लोग यही मानते हैं कि तत्काल मृत्यु नहीं होती। अर्थात् प्रारब्धपर्यन्त उसका देह से सम्बन्ध रहता है।

महात्मा ने कहा—बहुत ठीक कहते हो। आप लोग गम्भीरता से बात पर विचार करते हो। आप लोगों के स्वमुख से दिये उत्तरों

से तो यही सिद्ध होता है कि देहसम्बन्ध में प्रारब्धकर्म ही हेतु है। क्योंकि 'भूल' आदि के रहने पर भी प्रारब्धकर्म के बिना नर-नारी, पशु-पक्षी आदि विशेष शरीरों से सम्बन्ध नहीं होता तथा 'भूल' आदि के नष्ट हो जाने पर भी प्रारब्धपर्यन्त नर-नारी आदि विशेष शरीरों से सम्बन्ध रहता है। हाँ, देह को ही आत्मा मानने में 'भूल' आदि ही हेतु हैं।

अब आप लोग यह बतायें कि प्रारब्धकर्म कर्ताआत्मा का होता है या अकर्ताआत्मा का होता है ? और वह प्रारब्धकर्म अपने कर्ता-आत्मा के नर-नारी-देह से सम्बन्ध में हेतु होता है या अकर्ताआत्मा के नर-नारी-देह से सम्बन्ध में हेतु होता है ?

चारों जिज्ञासुओं ने कहा—प्रारब्धकर्म तो कर्ताआत्मा का ही हो सकता है, अकर्ताआत्मा का नहीं हो सकता। और वह प्रारब्ध-कर्म अपने कर्ताआत्मा का ही नर-नारी-शरीरों से सम्बन्ध में हेतु हो सकता है, अकर्ताआत्मा के देहसम्बन्ध में हेतु नहीं हो सकता।

महात्मा ने कहा—आप लोगों की विचारशैली दुराग्रहरहित निष्पक्षभावयुक्त है। ऐसी दशा में प्रथम-द्वितीय-तृतीय जिज्ञासुओं ने जो आत्मा को अकर्ता माना है, वह उनके विचार से ही विरुद्ध सिद्ध होता है।

प्रथम-द्वितीय-तृतीय जिज्ञासु यह भी बतायें कि 'भूल', 'अविवेक', 'अज्ञान' का नाश करने की साधना कौन करता है ?

तीनों जिज्ञासुओं ने कहा—'भूल', 'अविवेक', 'अज्ञान' ये आत्मा में ही हैं, इसलिये आत्मा ही मन-बुद्धि आदि साधनों के द्वारा इनके

नाश के लिये साधना करता है। ऐसा ही मानना न्याययुक्त होगा। भला ऐसा कैसे हो सकता है कि 'भूल' आदि आत्मा में हों और इनके नाश की साधना आत्मा से भिन्न कोई दूसरा (अनात्मा) करे।

महात्मा ने कहा—आप लोगों के इस न्याययुक्त सत्य उत्तर से भी यही सिद्ध होता है कि आप लोगों का आत्मा को अकर्ता मानना स्वविचारविरुद्ध है।

'सम्बन्ध माना हुआ है' अपने इस सिद्धान्त का समर्थन करने के लिये पति-पत्नी सम्बन्ध का उदाहरण प्रथम जिज्ञासु ने दिया है। हम आपसे पूछते हैं कि सगे भाई-बहन, पिता-पुत्री, माता-पुत्र ये परस्पर में पति-पत्नीभाव मान लें तो ये पति-पत्नी हो जायँगे क्या? समाज इन्हें धिक्कार नहीं देगा क्या? नरराज (सरकार) और यमराज इन्हें दण्ड नहीं देगा क्या?

प्रथम जिज्ञासु ने कहा—ये तीनों तो मान लेने से पति-पत्नी नहीं हो सकते। समाज इन्हें अवश्य धिक्कारेगा। नरराज और यमराज अवश्य दण्ड देगा।

महात्मा ने कहा—आपने अपने मुख से जो उत्तर दिया है, उसीसे यह अतिस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध भी व्यक्ति की स्वतंत्र मान्यता मात्र से नहीं होता। नास्तिक की दृष्टि से पति-पत्नी-सम्बन्ध सामाजिक या राष्ट्रीय संविधान से होता है। आस्तिक की दृष्टि से शास्त्रीय संविधान से होता है।

ऐसी दशा में माता-पिता, पुत्र-पुत्री के सम्बन्ध को तो माना हुआ किसी प्रकार भी नहीं सिद्ध किया जा सकता। इस विषय में एक प्रसिद्ध व्याख्यानदाता से मेरी जो बात हुई है, उसे ध्यान से सुनिये।—

व्याख्यानदाता से मैंने पूछा कि—आप कहते हैं कि 'माता-पिता के साथ माना हुआ सम्बन्ध है।' आप पर परमश्रद्धा होने के कारण आपकी बात सुनकर एक वृद्धा माता ने अपने युवा पुत्र को पुत्र मानना छोड़ दिया और पुत्र ने माता को माता मानना छोड़ दिया। बाद में वृद्धा बीमार हो गयी। उस वृद्धा की वह युवक सेवा न करे तो पाप होगा या नहीं? व्याख्यानदाता ने कहा—अवश्य होगा। मैंने पूछा, बहुत-सी बीमार वृद्धायें संसार में हैं, उनकी सेवा न करने से पाप नहीं होता, तो क्या कारण है कि उस वृद्धा की सेवा न करने से पाप होगा? व्याख्यानदाता ने कहा, वह उसकी जन्म देनेवाली माता है, इसलिये उसकी सेवा न करने से पाप होगा। मैंने कहा, आपके स्वमुख से दिये उत्तर से ही यह सिद्ध हो जाता है कि माता के साथ सम्बन्ध माना हुआ नहीं है, जन्म देने के कारण है। मेरी बात सुनकर व्याख्यानदाता चुप हो गये।

चारों जिज्ञासुओं ने कहा—आपसे विचार करने पर हमें बहुत लाभ हुआ। भक्तों से अपनी प्रशंसा सुनकर हमें अभिमान हो गया था कि मेरे विचार सर्वोत्तम हैं। इसलिये यह भी नहीं

समझ पाये कि मेरा विचार मेरे ही कथन से कैसे विरुद्ध है। आपने मेरी आँखें खोल दीं।

महात्माजी ने कहा—ऊपर विस्तार से किये गये गम्भीर विचार का सार थोड़े शब्दों में सुन लो—(१) 'भूल', 'अविवेक', 'अज्ञान', 'भगवद्-विमुखता' के रहने पर भी प्रारब्धकर्म के बिना नर-नारी आदि विशेष देहों से सम्बन्ध नहीं होता। (२) 'भूल' आदि के नष्ट हो जाने पर भी प्रारब्धपर्यन्त शरीरों से सम्बन्ध रहता है। ये दोनों तर्क सिद्ध कर देते हैं कि देहसम्बन्ध में प्रारब्ध-कर्म ही हेतु होता है। प्रारब्धकर्म कर्ताआत्मा का ही होता है, अकर्ताआत्मा का नहीं होता। स्वगत 'भूल' आदि को मिटाने की साधना जब आत्मा ही करता है, तब वह कर्ता ही हो सकता है, अकर्ता नहीं हो सकता। अतः आत्मा को अकर्ता कहना स्वविचार-विरुद्ध है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री के साथ माना हुआ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु प्रारब्धकर्मानुसार ईश्वरनिर्मित है। पति-पत्नी का सम्बन्ध भी स्वतन्त्र मान्यता से नहीं होता, सामाजिक, राष्ट्रीय, शास्त्रीय संविधान से होता है।

ॐ

सेवा जड़ संसार की या चेतना की ?

तीन सेवकों में सेवा के विषय को लेकर मतभेद था। किसका पक्ष विचारयुक्त तथा शास्त्रसम्मत है, इस बात का निर्णय कराने के लिये शान्त-एकान्त स्थान में विराजमान शास्त्र-अध्ययन-मनन करनेवाले सन्त के पास गये। सन्त ने कहा कि आप लोग अपने-अपने मत का कथन करो। उसे सुनकर हम कुछ निर्णय देने का प्रयास करेंगे।

प्रथम सेवक ने कहा—जड़ अन्न-जल-औषधि-वस्त्र आदि से जड़ शरीर की ही सेवा होती है, क्योंकि अन्न-जल आदि जड़ शरीर में ही लगते हैं, चेतनजीवात्मा में नहीं। इसलिये 'जड़ अन्नादि से जड़ शरीर की सेवा की जाय' ऐसा मैं मानता हूँ। इससे जड़ पदार्थों का प्रवाह जड़ शरीरादि की तरफ हो जायगा और आत्मा असङ्ग होकर मुक्त हो जायगा।

सन्त ने कहा—एक व्यक्ति भूखा-प्यासा था। आपने उसे अन्न-जल खिला-पिला दिया। आपके मतानुसार जड़ अन्न-जल, जड़ शरीर में लग गये। इस प्रकार जड़ से जड़ की सेवा हो गयी। दूसरे दिन उसी भूखे-प्यासे व्यक्ति के पास फिर आप अन्न-जल लेकर सेवा के लिये गये। उसी क्षण चेतनजीवात्मा निकल गया।

अब आप जड़ अन्न-जल को चेतनजीवात्मारहित जड़ शरीर में डालें तो सेवा हो जायगी क्या ?

प्रथम सेवक ने कहा—सेवा नहीं होगी। अन्न-जल का दुरुपयोग ही होगा।

सन्त ने कहा—आपके उत्तर से ही यह अतिस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि 'जड़ से जड़ की सेवा नहीं होती।' यदि जड़ से जड़ की सेवा होती तो चेतनजीवात्मारहित जड़ शरीर तो अभी भी विद्यमान है। उसमें जड़ अन्न-जल डालने से सेवा हो जानी चाहिये।

आपने अपने मत का समर्थन करने के लिये यह तर्क दिया कि 'जड़ अन्न-जलादि जड़ शरीर में ही लगते हैं, चेतनजीवात्मा में नहीं।' इस पर हम आपसे पूछते हैं कि किसी सन्त की कुटिया का जीर्णोद्धार कराना है। आपने सीमेन्ट-लोहा-लकड़ी आदि कुटिया में लगाकर जीर्णोद्धार करा दिया। इससे आपने जड़ कुटिया की सेवा की या चेतनसन्त की सेवा की ?

प्रथम सेवक ने कहा—मेरे द्वारा चेतनसन्त की ही सेवा की गयी, जड़ कुटिया की नहीं। क्योंकि सुख तो चेतनसन्त को ही होगा, जड़ कुटिया को नहीं।

सन्त ने कहा—आपके उत्तर से ही अतिस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भले ही जड़ पदार्थ कहीं लगें, सेवा तो सुख पानेवाले चेतन-जीवात्मा की ही होती है, जड़ शरीर या जड़ कुटिया की नहीं। इस प्रकार आपके उत्तरों से ही अतिस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि

'जड़ अन्नादि से जड़ शरीर की सेवा की जाय' यह आपका सिद्धान्त ठीक नहीं।

द्वितीय सेवक ने कहा—'संसार में अपना कुछ नहीं है, इसलिये संसार के पदार्थों से संसार की सेवा की जाय।' ऐसा मेरा मत है। इससे संसार के पदार्थों का प्रवाह संसार की तरफ हो जायगा। आत्मा असङ्ग होकर मुक्त हो जायगा।

सन्त ने कहा—यह देखो, सामने बाजार में कपड़े की दूकान है। आपकी मान्यता के अनुसार कपड़े संसार के पदार्थ हैं। इन वस्त्रों को आप संसार की सेवा में लगा दें तो क्या सेवा हो जायगी ? क्या पुलिस नहीं पकड़ेगी ? यमराज नहीं दण्ड देगा ?

द्वितीय सेवक ने कहा पुलिस अवश्य पकड़ेगी। यमराज अवश्य दण्ड देगा। सेवा नहीं होगी। इसका कारण यह है कि वे कपड़े मेरे नहीं, इसलिये उन्हें संसार की सेवा में लगाने का मुझे अधिकार ही नहीं।

सन्त ने कहा—आपके उत्तर से तो यही सिद्ध होता है कि 'अपनी वस्तु से ही संसार की सेवा की जा सकती है।' इससे तो 'अपना कुछ नहीं' ऐसी आपकी जो मान्यता है, वह ठीक नहीं सिद्ध होती।

आप यह भी बतायें कि सर्दी से व्याकुल एक व्यक्ति को आपने अपने वस्त्र से ढक दिया। आपके मतानुसार संसार के पदार्थ वस्त्र से संसार की सेवा हो गयी। दूसरे किसी व्यक्ति को सर्दी से

व्याकुल देखकर आप अपना वस्त्र लेकर उसके पास पहुँचे। उसी क्षण चेतनजीवात्मा शरीर से निकल गया। अब उस संसाररूप शरीर को आप अपने वस्त्र से ढक दें, तो संसार की सेवा हो जायगी क्या ?

द्वितीय सेवक ने कहा—सेवा नहीं होगी। वस्त्र का दुरुपयोग होगा।

सन्त ने कहा—आपके उत्तर से तो यह अतिस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि 'संसार के पदार्थों से संसार की सेवा नहीं होती', यदि होती तो चेतनजीवात्मारहित जड़ शरीर भी संसार ही है, वह अभी विद्यमान ही है, उसे वस्त्र से ढकने पर सेवा हो जानी चाहिये, होती नहीं। इससे सिद्ध हो जाता है कि संसार की नहीं, किन्तु चेतनजीवात्मा की ही सेवा होती है।

इस प्रकार विचार करने पर 'जड़ से जड़ की सेवा' और 'संसार के पदार्थं से संसार की सेवा' ये दोनों सिद्धान्त सारहीन सिद्ध होते हैं। वस्तुतः इन दोनों सिद्धान्तों में कुछ भी अन्तर नहीं है, केवल शब्दों का परिवर्तन मात्र किया गया है। शब्दों के परिवर्तन मात्र से वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। शास्त्र में कहीं कथन न होने से ये दोनों सिद्धान्त शास्त्रसम्मत तो हैं ही नहीं।

तृतीय सेवक ने कहा—हमारे प्रारब्धकर्मानुसार ईश्वर ने मुझे जो धन-तन-मन-बुद्धि आदि पदार्थ दिये हैं, उन अपने पदार्थों से चेतनजीवात्मा की सेवा करनी चाहिये। ऐसा मैं मानता हूँ।

ऐसा करने से भगवान् की कृपा मुझ पर होगी, जिससे मैं मुक्त हो जाऊँगा।

सन्त ने कहा—शरीर इन्द्रिय-प्राणरहित केवल चेतनजीवात्मा की आप अपने तन-धन-अन्न-जलादि से सेवा कैसे करेंगे ? क्योंकि शरीर-प्राणादियुक्त चेतनजीवात्मा को ही भूख-प्यास आदि लगने पर अन्न-जलादि देकर सेवा की जाती है।

तृतीय सेवक ने कहा—यद्यपि यह सत्य है कि शरीर-इन्द्रिय-प्राणयुक्त होने पर ही जीवात्मा को भूख-प्यास लगती है, जिसे अन्न-जल देकर सेवा की जाती है। फिर भी शरीर-इन्द्रिय-प्राण-मन आदि सभी जड़ हैं, चेतनजीवात्मा के भोग के साधन हैं, अधिकरण या करण हैं। इनके द्वारा सुख तो चेतनजीवात्मा ही भोक्ता है। शरीरादि तो जड़ होने से भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता की ही शास्त्रविहित हितकर भोग-पदार्थों द्वारा सेवा होती है। इसलिये चेतनजीवात्मा की ही सेवा होती है' ऐसा मैं मानता हूँ।

सन्त ने कहा—आपका कथन ठीक है, शास्त्रसम्मत है। देखिये, गीता जी में कहा है कि

'सर्वभूतहिते रताः।'

(५।२५), (१२।४)।

यहाँ 'भूत' शब्द चेतनजीवात्माओं के लिये प्रयुक्त हुआ। गीता १८।४६ में भी चेतन की सेवा स्वकर्म से बतायी है।

तीनों सेवकों ने मिलकर कहा—भगवन् ! आपके साथ

विचार करने से हमें बहुत सन्तोष हुआ। अब हम यह जानना चाहते हैं कि सेवा करता कौन है? धन-तन-मन आदिरहित केवल चेतनजीवात्मा किसीकी सेवा कर ही नहीं सकता। इसी प्रकार चेतनजीवात्मारहित धन-तन-मन आदि भी जड़ होने के कारण सेवा नहीं कर सकते। अतः प्रश्न होता है कि सेवा करता कौन है?

सन्त ने कहा—जिसके पास अन्न-जल नहीं है, ऐसा व्यक्ति, किसी भूखे-प्यासे जीव की सेवा नहीं कर सकता, यह सर्वथा सत्य है। इसी प्रकार यह भी सर्वथा सत्य है कि अन्न-जलयुक्त व्यक्ति ही भूखे-प्यासे जीव की सेवा कर सकता है। ऐसा होने पर भी यह भी सर्वथा सत्य है कि अन्न-जल सेवा के साधन ही हैं, सेवक नहीं। सेवक तो व्यक्ति ही है। ऐसा लोक में सभी को मान्य है।

इसी प्रकार धन-तन-मन आदि साधनों से रहित केवल चेतन-जीवात्मा किसीको सेवा नहीं कर सकता, यह सर्वथा सत्य है। धन-तन-मन से युक्त होने पर ही चेतनजीवात्मा सेवा कर पाता है, यह भी सर्वथा सत्य है। ऐसा होने पर भी ऊपर लिखे दृष्टान्त के अनुसार धन-तन-मन आदि सेवा के साधन ही हैं, सेवक नहीं। यह बात सभी को मान्य है। अतः धन-तन-मन आदि साधनों द्वारा चेतनजीवात्मा ही सेवा करने के कारण सेवक है, ऐसा स्वतः सिद्ध हो जाता है। अर्थात् चेतनजीवात्मा ही सेवा करता है।

लेख का सारांश यह है कि चेतनजीवात्मा ही अपने धन-तन-मन आदि सेवा-साधनों द्वारा तन-मन आदियुक्त चेतनजीवात्मा

की ही सेवा करता है। 'जड़ से जड़ की सेवा' या 'संसार के पदार्थों से संसार की सेवा' ये दोनों सिद्धान्त न तो विचारयुक्त हैं और न शास्त्रसम्मत ही हैं, क्योंकि इन दोनों सिद्धान्तों का कथन शास्त्र में कहीं भी नहीं किया गया। अपने ही धन-तन-मन आदि से सेवा की जाती है, दूसरों के धन-तन-मन से सेवा नहीं की जाती। इसलिये 'अपना कुछ नहीं' यह कहना भी ठीक नहीं।

सत्य बात तो यह है कि प्रथम तथा द्वितीय सेवक भी अपने ही पदार्थों से जीवित प्राणियों की ही सेवा करते हैं। मृत जड़ शरीर की नहीं करते। अतः दोनों की कथनी ही शास्त्र तथा युक्तिविरुद्ध है, करनी नहीं। इसलिये दोनों का भी कल्याण अवश्य होगा।

'सेवा चेतन को ही होती है, जड़ की नहीं होती' इस बात को शास्त्रसम्मत दार्शनिक शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि—'शास्त्रविहित हितकर जड़ भोगपदार्थों से भोक्ता की ही सेवा हो सकती है, अभोक्ता की नहीं।' गीता १३।२१ में प्रकृतिस्थपुरुष को अर्थात् प्रकृति के कार्य शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि में स्थित चेतन पुरुष को ही भोक्ता कहा है, जड़ शरीरादि को भोक्ता नहीं कहा। जड़शरीर तो भोग का अधिकरण है और इन्द्रिय-मन-बुद्धि भोग के उपकरण ही हैं, भोक्ता नहीं।

ॐ

भगवत्प्राप्ति सुलभ या दुर्लभ ?

१. सुलभ है—गीता में भगवान् ने स्वमुखारविन्द से कथन किया है कि—'यदि अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाक् (अर्थात् भगवान् का भजन करने से ही मेरा कल्याण होगा, अन्य साधन से नहीं होगा ऐसा निश्चयवाला) होकर मुझे भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। सदा रहनेवाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तुम निश्चयपूर्वक सत्य जानो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय ! प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९।३०-३१)

भगवान् के द्वारा कथन किये गये इन वचनों से अतिस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सदाचारी की तो बात ही क्या, अतिशय दुराचारी को भी भगवत्प्राप्ति सुलभ है। यह बात श्लोक में आये **'क्षिप्रं'** इस पद से स्पष्ट हो जाती है।

२. दुर्लभ है—निष्कामभाव से अन्यभाक् होकर भजन करने की बात तो दूर रही, सकामभाव से भजन भी सुकृती सदाचारी ही कर सकता है, दुराचारी नहीं कर सकता। ऐसी दशा में अतिशय दुराचारी निष्कामभाव से अनन्यभाक् होकर भजन करने लगे, यह सर्वथा असम्भव है। इसी बात को कहने के लिए गीता ९।३० के श्लोक में भगवान् ने **'अपि चेत्'** (यदि ऐसा हो जाय तो) शब्दों का प्रयोग किया है। 'अपि चेत्' शब्दों के प्रयोग से ही यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् के कथन का तात्पर्य भक्ति की महिमा बताने में ही है। अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाक् होकर भजन कर सकता है, ऐसा बताने में नहीं है। टीकाकारों ने भी ऐसा ही माना है।

सकामभाव से भी भजन सदाचारी ही कर सकता है, दुराचारी नहीं। इस बात को बताने के लिये ही गीता ७।१६ में 'सुकृतिनो' शब्द का प्रयोग भगवान् ने किया है—

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।'

(गीता ७।१६)

रामचरितमानस में भी कहा है—

'रामभगत जग चार प्रकारा।
सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥

(१।२१।६)

वहीं गीता ७।२८-२९ में जन्म-मरण से मोक्ष पाने के लिये

भगवान् का आश्रय लेकर दृढ़व्रत होकर वे ही भजन कर सकते हैं, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं तथा पुण्यकर्म करनेवाले हैं। ऐसा कहा है—

'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये' ।

(गीता ७।२८-२९)

भगवान् के इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि **'दृढ़भाव'** से भजन भी पापरहित सदाचारी ही कर सकता है। जिससे अर्थत: यही सिद्ध होता है कि दुराचारी **'दृढ़भाव'** से भजन नहीं कर सकता। ऐसी दशा में अतिशय दुराचारी अनन्यभाक् होकर भजन कर सके, यह कभी भी संभव नहीं। अतः गीता ९।३० का तात्पर्य भक्ति की महिमा बताने में ही है।

हमारे सुपरिचित एक अच्छे सन्त हैं। उन्होंने हमें बताया कि शास्त्रों में मातृगमन, ब्राह्मणवध, स्वर्णचोरी, मद्यपान, इन चार कार्यों को करनेवालों का संग करना, ये पाँच महापाप बताये गये हैं। इन्हें करनेवाले को महापातकी, सुदुराचारी कहते हैं। इन पाँचों महापापों की बात तो दूर रही, एक महापाप भी मैं प्रतिदिन नहीं करता। इतना ही नहीं, जीवन में कभी भी एक महापाप भी नहीं किया। इसलिये मैं सुदुराचारी, महापापी नहीं हूँ, ऐसा शपथपूर्वक कह सकता हूँ। 'भगवान् के भजन से ही कल्याण

होगा' ऐसा मेरा सुदृढ़ निश्चय भी है, इसलिये मैं अनन्यभाक् भी हूँ। केवल बौद्धिक निश्चय हो नहीं है, निश्चय के अनुसार अपना अधिक समय भजन में हो लगाता हूँ। ४० वर्ष व्यतीत हो गये, फिर भी अभी तक न तो पूरा धर्मात्मा ही बन पाया और न शाश्वत शान्ति की ही प्राप्ति हुई। इस कारण मैं भी ऐसा मानता हूँ कि गीता ९।३०-३१ के श्लोकों का तात्पर्य भक्ति की महिमा बताने में ही है।

मेरे परिचित दो युवक भक्त हैं। वे दोनों ऊपर लिखे पाँच महापापों में से एक पाप भी नहीं करते। दोनों का यह निश्चय भी है कि 'भगवान् के भजन से ही मेरा कल्याण होगा।' इसलिये प्रतिदिन जितना हो सकता है भजन भी करते हैं। एक के मन में व्यभिचार करने की प्रबल वासना रहती है, परन्तु व्यभिचार करता नहीं। दूसरा व्यभिचाररूप उपपाप करता भी है। दोनों को ही अपने इन दोषों के लिये पश्चात्ताप भी होता है, इनसे छूटना चाहते हैं, परन्तु प्रबल स्वभाव बन जाने के कारण छोड़ नहीं पाते। इसलिये अन्य भक्तगण ही नहीं, किन्तु वे दोनों भक्त स्वयं भी इस बात पर विश्वास नहीं कर पाते कि 'मैं शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाऊंगा, मुझे शीघ्र ही शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जायगी। इसलिये वे भी गीता ९।३०-३१ के श्लोकों का तात्पर्य भक्ति की महिमा बताने में ही है, ऐसा मानते हैं।

गीता के ९।३०-३१ श्लोकों का तात्पर्य भक्ति की महिमा बताने में ही है, इस बात को श्लोकों के शब्दों से और अधिक

स्पष्ट समझने के लिये 'साधनविचार' नाम के ग्रन्थ का 'क्या महापापी भी ज्ञानी, भक्त' यह प्रकरण ध्यानपूर्वक पठन-मनन करना चाहिये तथा इन श्लोकों पर प्राचीन टीकाओं को भी पढ़ना चाहिये।

अतिशय दुराचारी की बात तो दूर रही, दुराचारी के तो मन में भी भगवान् की शरण में जाने का या भजन करने का सङ्कल्प भी नहीं उदय होता। ऐसा गीता तथा रामायण में कहा है।—

'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।' ७।१५

पापवन्त कर सहज सुभाऊ।
भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥
जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई।
मोरे सनमुख आव कि सोई॥

(रामचरितमानस ५।४३।३-४)

इन वचनों से भी यही सिद्ध होता है कि अतिशय दुराचारी अनन्यभाक् होकर भजन नहीं कर सकता। अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाक् होकर भजन कर सकता है, इसका समर्थन करने के लिये अजामिल और वाल्मीकिजी का उदाहरण देना भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम तो उक्त शास्त्र-वचनों से विरोध होगा। दूसरी बात यह है कि अजामिल उसी जन्म में और वाल्मीकिजी पूर्वजन्म में बहुत बड़े धर्मात्मा थे। उसी पुण्य के प्रभाव से उनमें अनन्यभाव

का उदय हुआ था, ऐसा उनके जीवन-चरित्र को ध्यान से पढ़ने पर पकड़ में आ जाता है। तीसरी बात, ये दोनों दुराचार को छोड़कर ही अनन्यभजन करनेवाले बने, दुराचारी रहते हुए नहीं। चौथी बात, ये दोनों दुराचार छोड़कर दीर्घकाल तक अनन्यभाव से निरन्तर भजन करने पर ही शाश्वत शान्ति को प्राप्त हुए, 'क्षिप्रं, अर्थात् शीघ्र चुटकी बजाते नहीं। अतः दुराचारी रहते हुए अनन्य-भजन होना सर्वथा असम्भव है और उसका क्षिप्र (शीघ्र) साधु होना असम्भव है। अतः भगवत्-प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है।

गीता में कहा है कि 'अनेक जन्मों में सिद्ध हुआ परागति को प्राप्त होता है', 'बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानवान् मुझे प्राप्त होता है।'—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥'

(गीता ६।४५)

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते॥'

(गीता ७।१९)

पद्मपुराण में भगवान् अपने भक्त से कहते हैं–'हे पापरहित ब्राह्मणश्रेष्ठ! तुमने बहुत जन्मों में परम भक्ति से मेरी पूजा की है, इसलिये मैंने तुम्हें दर्शन दिया है।'—

बहुजन्मसु विप्रेन्द्र भक्त्या परया त्वया।
पूजितोऽहमतो दत्तं दर्शनं ते मयाऽनघ॥

(पद्मपु० ७।१७।२३६, वेङ्कटेश्वर प्रेस, सं० १९८४)

भागवत में भी ३।२४।२८/ ३।२५।८/ ३।२७।२७ इन श्लोकों में बहुत जन्म की बात कही है।

इन वचनों से अतिस्पष्ट है कि सदाचारी को भी शीघ्र भगवत्प्राप्ति नहीं होती, अनेकों जन्म तक साधना करने पर ही होती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है। इसीलिये माता पार्वतीजी शङ्कर भगवान् से कहती हैं—

'सब तेसो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत माया ॥'

(रा० मा० ७।५३।७)

भागवत में भी कहा है—'करोड़ों मुक्त सिद्ध पुरुषों में भी प्रशान्त नारायणपरायण सुदुर्लभ है।

'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥'

(भाग० ६।१४।५)

इन सब शास्त्रवचनों से अतिस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भगवत्प्राप्ति शीघ्र नहीं होती, अनेक जन्मों तक साधना करने पर ही होती है। इसलिये अतिदुर्लभ है, सुलभ नहीं।

शङ्का—इस प्रकार एक भक्त ने भगवत्प्राप्ति को सुलभ बताया, दूसरे भक्त ने दुर्लभ बताया। दोनों विद्वान् हैं, क्योंकि स्वपक्ष का समर्थन शास्त्रवचन से करते हैं। इनमें से दूसरे भक्त ने स्वपक्ष का समर्थन करने के लिये अनेकों शास्त्रवचनों, युक्तियों तथा अनुभूतियों का जो विस्तार से कथन किया है, वे सब तो प्रथम

भक्त के लिये भी विचारणीय हैं। अतः आपसे प्रार्थना है कि इन दोनों में किसका पक्ष शास्त्रतात्पर्य के अनुकूल है, यह बताने की कृपा करें।

समाधान—भागवत के प्रथम स्कन्ध में ५-६ अध्याय में नारदजी ने स्वमुख से अपने पूर्वजन्म का चरित्र वर्णन किया है। उसे पूरा तो भागवत में ही पढ़ना चाहिये। विचारयोग्य सार-अंश यहाँ हम लिखते हैं। उस पर जो विचार किया जायगा, उसे ध्यान से पठन-मनन-परिशीलन करने पर आपकी शङ्का का सम्यक् समाधान हो जायगा, ऐसी आशा है।

नारदजी ने व्यासजी को बताया कि 'मैं पूर्वजन्म में दासीपुत्र था। माँ सन्तों की सेवा करती थी। सन्तों की अनुमति से मैं उनका जूठन खा लेता था। इससे मेरे कुछ पाप नष्ट हो गये। मेरे विशुद्ध चित्त में भगवद्धर्म के प्रति रुचि हो गयी। भगवान् के गुणों का गान करने लगा। दयालु सन्तों ने चलते समय मुझे साधन बताया। माँ के मर जाने पर मैं वन में चला गया। वहाँ सन्तों के बताये साधन का अनुष्ठान किया। इससे भगवान् ने प्रसन्न होकर क्षण-भर दर्शन दिया। दूसरे क्षण दर्शन न होने पर मैं अतिआतुर हो गया। बारम्बार ध्यान लगाया, फिर भी दर्शन नहीं हुआ। जब मैं अतिव्याकुल हुआ तो आकाशवाणी ने कहा कि 'हे बालक! तुम्हें इस जन्म में फिर दर्शन नहीं होगा, क्योंकि जिनके कषायों (पापों) का नाश नहीं हुआ, उनके लिए मेरा (स्थायी) दर्शन संभव नहीं।'

नारदजी के इस चरित्र में ध्यान देने योग्य बातें ये हैं कि (१) नारदजी सुदुराचारी या दुराचारी नहीं थे, किन्तु सदाचारी थे। (२) सन्तों की सेवा तथा जूठन से उनके कुछ पाप नष्ट हो गये थे। (३) विशुद्धचित्त था। (४) भगवद्धर्म में रुचि थी। (५) भगवान् के गुणों का गान भी करते थे। (६) भगवद्दर्शन की इच्छा भी थी। (७) क्षणभर के लिये जो दर्शन हुआ वह भी इच्छामात्र से नहीं हुआ, किन्तु सन्त के बताये साधन का अनुष्ठान करने से हुआ। (८) क्षणिक दर्शन से पुनः दर्शन की **अतिप्रबल इच्छा** होने पर तथा बारम्बार ध्यान करने पर भी पुनः दर्शन नहीं हुआ। (९) आकाशवाणी ने पुनः दर्शन न होने में कारण बताया कि 'पापों का नाश नहीं हुआ'। (१०) १०-२० वर्ष दर्शन नहीं होगा, ऐसा आकाशवाणी ने नहीं कहा, किन्तु 'इस जन्म में दर्शन नहीं होगा' ऐसा कहा।

इन बातों पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि 'भगवद्दर्शन की **प्रबल इच्छावाले सदाचारी** साधक को भी **अनेक** जन्म तक साधन करने पर ही **स्थायीरूप** में भगवत्प्राप्ति होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवत्प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं, अतिदुर्लभ है। अतः जो लोग इच्छामात्र से सुदुराचारी को भी शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति सुलभ मानते हैं उनका मत शास्त्रतात्पर्य के अनुकूल नहीं है। यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है।

एक बात यहां और ध्यान देने योग्य है कि—नारदजी को

जो क्षणिकदर्शन हुआ था, वह भावनात्मक अवास्तविक दर्शन नहीं था, किन्तु प्रभुकृपाजन्य वास्तविक दर्शन था। उस यथार्थ-क्षणिकदर्शन से भी पूरे पापों का नाश नहीं हुआ। दूसरे जन्म तक साधना करने पर ही पूरे पाप नष्ट होकर स्थायी रूप में भगवत्प्राप्ति हुई। ऐसी दशा में क्षणिक भावनात्मक अयथार्थ दर्शन से 'मेरे पापों का नाश हो गया, मुझे भगवत्प्राप्ति हो गयी' ऐसा कोई माने तो बड़ी भारी भूल होगी।

ॐ

साधन अपने लिये या दूसरों के लिये ?

एक संन्यासी अपने प्रवचन में कह रहे थे कि महाभारत में कहा है कि परिवार के लिये एक का त्याग कर दे, ग्राम के लिये परिवार का त्याग कर दे, जनपद (जिला) के लिए ग्राम का त्याग कर दे, अपने लिये पृथ्वी (सब) का त्याग कर दे।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

(महाभारत, सभापर्व ६२।११ / उद्योगपर्व ३७।१७ / १२८।४९)
(गरुडपु०, पू० १०९।२)

महाभारत तथा गरुड़पुराण के इस वचन से यही सिद्ध होता है कि आत्मा के (अपने) लिये त्यागादि साधन किये जाते हैं। जैमिनि ऋषि ने भी कहा है कि 'शास्त्रीय साधनों का फल प्रयोक्ता अर्थात् साधनकर्ता को ही मिलता है'—

'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि'

(जैमिनिसूत्र ३।७।८)

इस सूत्र से भी यही सिद्ध होता है कि शास्त्रीय साधन अपने कल्याण के लिये ही किये जाते हैं।

संन्यासीजी का कथन मुझे ठीक नहीं लगा। मैंने उनसे कहा कि मैं तो पूर्णकाम परमात्मा का अंश चेतन आत्मा हूँ, इसलिये मुझे अपने लिये तो कुछ भी नहीं करना चाहिये, दूसरों के लिये ही करना चाहिये अथवा परमात्मा के लिये करना चाहिये। ऐसा मैं ही नहीं कहता, एक अतिप्रसिद्ध सन्त भी कहते हैं तथा लिखते भी हैं।

संन्यासीजी ने पूछा—यह तो बताओ कि पूर्णकाम परमात्मा का अंश होने के कारण जब तुम्हें अपने लिये कुछ भी नहीं करना चाहिये, ऐसा कहते हो तो 'पूर्णकाम अंशी परमात्मा के लिये करना चाहिये' ऐसा कैसे कहते हो? इससे तो ऐसा सिद्ध होता है कि अंश-रूप आत्मा को कुछ भी नहीं चाहिये, अंशीरूप पूर्णकाम परमात्मा को बहुत चाहिये, ऐसा आप मानते हैं। जरा विचार करो कि जिसे बहुत चाहिये वह पूर्णकाम कैसे हो सकता है? परमात्मा को पूर्ण-काम मानकर 'परमात्मा के लिये करना चाहिये' ऐसा कहना तो ठीक नहीं, क्योंकि जिसे कुछ चाहिये, उसीके लिये कुछ करना ठीक होता है।

'दूसरों के लिये ही करना चाहिये' ऐसा आपका कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्णकाम परमात्मा के अंश जैसे आप हैं, वैसे ही दूसरे भी उन्हींके अंश हैं। इसलिये आप और दूसरे समान ही हैं। ऐसी दशा में 'अपने लिये कुछ भी नहीं करना चाहिये, दूसरों के लिये ही करना चाहिये' ऐसा कहना विचारशील के लिए शोभनीय नहीं।

अपने से भिन्न दूसरे जड़ पदार्थ भी हैं, उनके लिये भी कुछ करना नहीं बनता, क्योंकि जड़ को कुछ चाहिये ही नहीं। इस प्रकार 'दूसरे' इस शब्द का अर्थ अन्य चेतन आत्मा या जड़ अनात्मा मानें, किसीके लिये कुछ करना नहीं बनता।

यह भी बताओ कि यदि परमात्मा के लिये या दूसरों के लिये न किया जाय, अपने लिये ही किया जाय, तो क्या हानि होगी ?

मैंने कहा—अपने लिये ही करने पर स्वार्थभाव नहीं नष्ट होगा, स्वार्थभाव नष्ट न होने पर अपना कल्याण न होगा।

संन्यासी ने कहा—आपके उत्तर से तो यह सिद्ध हुआ कि 'आप अपना कल्याण करना चाहते हैं।' अपने कल्याण के लिये ही 'दूसरों के लिये या परमात्मा के लिये करो', ऐसा कहते हैं। ऐसी दशा में 'अपने लिये कुछ नहीं करना है' ऐसा कहना आपके अपने कथन से ही विरुद्ध सिद्ध होता है। आप मेरी इन बातों पर गम्भीर विचार कर चार दिन बाद आकर उत्तर देना।

मैंने कहा—चार दिन तक मैंने बहुत विचार किया, जिस प्रकार से आपने मेरी बात पर युक्तिपूर्वक विचार उपस्थित किया है, उसका उत्तर युक्तिपूर्वक मैं नहीं दे सकता। यदि पूर्णकाम-परमात्मा के लिये कुछ करना नहीं बनता तो परमात्मा श्रीकृष्ण-जी ने **'मत्कर्मपरमो भव'** अर्थात् 'मेरे लिये कर्म करने के ही परायण हो' ऐसा गीता १२।१० में क्यों कहा है ? यदि पूर्णकाम-परमात्मा के ही अंश सभी दूसरी आत्मायें हैं, उनके लिये भी कुछ करना नहीं बनता, ऐसा आप मेरी मान्यता के आधार पर कहते

हैं, तो गीता १२।४ तथा ५।२५ में **'सर्वभूतहिते रताः'** ऐसा क्यों कहा है ?

संन्यासी ने कहा—गीता १२।१० में **'मत्कर्मपरमो भव'** कहा है। उसी श्लोक में उसका फल भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि बताया है—

'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि'

यह भगवत्प्राप्तिरूप फल साधक अपने लिये ही चाहता है, उसके लिये 'भगवदर्थं' कर्म करता है। इसका अर्थ है कि भगवान् की प्रसन्नता के लिये कर्म करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् को कुछ चाहिये, उसकी पूर्ति के लिये कर्म करता है, क्योंकि भगवान् तो पूर्णकाम हैं। भगवान् की प्रसन्नता से मुझे भगवत्प्राप्ति होगी ऐसा मानकर कर्म करना ही 'भगवदर्थं कर्म' का अर्थ है।

गीता १२।४ तथा ५।२५ में **'सर्वभूतहिते रताः'** कहा है। उन्हीं दोनों श्लोकों में उसका फल क्रमशः 'वे मुझे प्राप्त होते हैं', 'ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होते हैं' ऐसा कहा है—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं…सर्वभूतहिते रताः'

भगवत्प्राप्ति तथा निर्वाणप्राप्तिरूप फल साधक अपने लिये ही चाहता है, उसके लिये ही सबकी सेवा करता है। इस प्रकार सर्वत्र शास्त्रीय साधनों का फल साधना करनेवाले को ही प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि 'अपने लिये ही साधन

किये जाते हैं, दूसरों के लिये या ईश्वर के लिये साधन नहीं किये जाते।'

'आत्मशुद्धये' (५।११), **'उद्धरेदात्मनात्मानं'** (६।५), **'आचरत्यात्मनः श्रेयः'** (१६।२२) गीताजी के इन वचनों से भी यही सिद्ध होता है कि साधन अपने कल्याण के लिये ही किये जाते हैं।

संन्यासीजी के युक्तिपूर्ण तथा शास्त्रप्रमाणों से युक्त कथन पर बारम्बार विचार करके अब मैं भी ऐसा ही मानता हूँ कि साधन अपने लिये ही किया जाता है, दूसरों के लिये नहीं किया जाता। संन्यासीजी ने अन्त में मुझसे यह भी कहा कि 'साधन दूसरों के कल्याण के लिये करना चाहिये' इस मत में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसे मान लेने पर यह भी मानना होगा कि सनक-सनन्दन आदि किसीका भी साधन सफल नहीं हुआ। यदि उनका साधन सफल हो गया होता तो सभी दूसरों का कल्याण हो गया होता।

ॐ

ज्ञान, शुद्ध मन में या अशुद्ध मन में ?

अशुद्ध मन में—गीता ४।३६ में कहा है—'यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है (तो भी) ज्ञानरूप नौका द्वारा ही सम्पूर्ण पापों को भलीभाँति पार कर जायगा—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

(गीता ४।३६)

गीताजी के इस वचन से अतिस्पष्ट है कि महापापी को अर्थात् जिसका मन अशुद्ध ही नहीं, किन्तु महाअशुद्ध होता है, उसको भी ज्ञान हो सकता है।

युक्ति से भी ऐसा मानना ठीक है। देखिये—जब मन-बुद्धि-चित्त-अहंकाररूप अन्तःकरण का त्याग करना ही है, तब इसे शुद्ध करने की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार गीता के वचन तथा युक्ति से अतिस्पष्ट है कि अशुद्ध मन में ज्ञान हो सकता है। ऐसा मैं ही नहीं कहता, किन्तु एक अतिप्रसिद्ध सन्त भी कहते हैं। वे अपठित नहीं, किन्तु पठित विद्वान् हैं। प्राप्त गीता की टीकाओं की अपेक्षा बहुत बड़ी गीता-माता पर टीका लिखी है, जो साधकों के लिये सञ्जीवनी बूटी

की तरह जीवनप्रदायिनी है। इसलिये अन्तःकरण तथा इन्द्रियों को शुद्ध या वश में किये बिना भी ज्ञान हो सकता है।

शुद्ध मन में—गीता १५।११ में कहा है कि 'अशुद्धअन्तःकरण-वाला अज्ञानी यत्न करते हुए भी इसको नहीं जान सकता।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।

(गीता १५।११)

गीता के उसी चौथे अध्याय में भी आगे कहा है—'श्रद्धावान्, तत्पर, जितेन्द्रिय को ज्ञान होता है।' 'योग से संशुद्ध अन्तःकरण-वाले को समय से ज्ञान होता है।'—

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।

(गीता ४।३८)

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

(गीता ४।३९)

गीताजी के ही इन श्लोकों में कथित वचनों से विरोध होने के कारण टीकाकारों ने ४।३६ श्लोक का तात्पर्य ज्ञान की महिमा बताने में ही माना है। पापी को ज्ञान होने में तात्पर्य नहीं माना। श्री मधुसूदनजी ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'अपि', 'चेत्', ये दो निपात असंभव अर्थ का प्रदर्शन करने के लिये (श्लोक) में हैं। यद्यपि यह अर्थ संभव नहीं है, तथापि ज्ञानफल कथन के लिये स्वीकार करके कहा है।—

'अपिचेदित्यसंभाविताभ्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ। यद्यपि अयमर्थो न सम्भवत्येव तथापि ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते'

(गीतामधुसूदनी ४।३६)

इस प्रकार पूर्वापर का विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि गीता ४।३६ के आधार पर 'अन्तःकरण तथा इन्द्रियों को शुद्ध या वश में किये बिना भी ज्ञान हो सकता' है ऐसा मानना ठीक नहीं।

गीता १५।११ / ४।३८-३९ से ही विरोध होगा, इतना ही नहीं, किन्तु गीता ३।४१ / ४।१० / ५।१७ / ५।२८ आदि गीता के अनेकों श्लोकों से भी विरोध होगा। गीता १३।७ से ११ तक बताये ज्ञान-साधन बेकार हो जायँगे। गीता १४।१७ में **'सत्त्वगुण से ज्ञान होता है' 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं'** ऐसा कहा है। यह कथन भी व्यर्थ हो जायगा।

अन्तःकरण की शुद्धिरूप दैवीसम्पदा के बिना ही यदि ज्ञान होकर मोक्ष हो जाय तो 'दैवीसम्पदा मोक्ष के लिये और आसुरी-सम्पदा बन्धन के लिये मानी गयी है' ऐसा जो गीता १६।५ में कहा है, यह कथन भी व्यर्थ हो जायगा।

गीता के वचनों से ही नहीं किन्तु गीतामाता की माता भगवती श्रुति से भी विरोध हो जायगा। श्रुति कहती है कि 'जो दुश्चरित से विरत नहीं हुआ, जो शान्त नहीं, जो समाहित नहीं, ऐसा अशान्त-मनवाला व्यक्ति प्रज्ञान के द्वारा भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता।'

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठोप० १।२।२४)

गीता जिस महाभारत के अन्तर्गत है, उस महाभारत में भी कहा है कि 'पापकर्मों के क्षय होने पर पुरुष को ज्ञान होता है ।'—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः ।

(महा०, शान्तिपर्व २०४।८)

इस प्रकार गीताजी के ही अनेकों वचनों से तथा अन्य शास्त्रों से भी विरोध होने से गीता ४।३६ का तात्पर्य महापापी अशुद्ध मनवाले को भी ज्ञान होने में नहीं है ।

'जब अन्तःकरण का त्याग करना ही है, तब इसे शुद्ध करने की क्या आवश्यकता है ?' यह युक्ति जो दी गयी है, इस पर मुझे इतना ही कहना है कि 'जब देह का त्याग करना ही है, तब अन्न, जल, वस्त्र, औषधि से देह की रक्षा क्यों करते हो ? न चाहने पर भी बिनाप्रयास अवश्य जिसका त्याग हो जायगा, उस देह की रक्षा का सावधानी से पूरा प्रयास करना और चाहने पर भी बिना-प्रयास जिस अन्तःकरण का त्याग निश्चय ही न होगा, उस अन्तः-करण की शुद्धिरूप रक्षा की उपेक्षा करने की बात कहना तो अपना उपहास कराना ही है । इस प्रकार शास्त्र तथा युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि अशुद्ध मन में नहीं, किन्तु शुद्ध मन में ही ज्ञान होता है ।'

अपने मत का समर्थन करने के लिये गीता पर मोटी टीका लिखनेवाले जिस सन्त की चर्चा की है, उनके सामने भी मैंने ऊपर लिखी बातें कहीं । इनका कोई समाधान न दे सके, केवल इतना ही कहा कि 'मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि अन्तःकरण-शुद्धि की आवश्यकता नहीं ।' मैंने उनसे कहा कि शास्त्र तथा विचार-विरुद्ध होने से आपकी अनुभूति प्रमाण (सत्य) नहीं मानी जा सकती । जब १२-१४ वर्ष के थे तब आपकी यह अनुभूति थी कि 'मैं मनुष्य हूँ' उस अनुभूति को अब मिथ्या क्यों माना ?

अपने सरल स्वभाव से जन का मन-मोहन करनेवाले एक ब्राह्मण ने, जो उनकी निजी सेवा में रहते हैं, मुझसे आकर कहा कि स्वामीजी महाराज कहते हैं कि जैसे अन्य सन्तों ने अपने अनु-भव के बल से शास्त्रविरुद्ध भी बात कही है, वैसे ही मुझे भी अपने अनुभव के बल से शास्त्रविरुद्ध भी बात कहने का अधिकार है । मैंने उस सेवक से कहा कि यदि स्वामीजी को गीताशास्त्र का प्रामाण्य मान्य नहीं है, तो गीता पर टीका लिखने का कोई अधि-कार नहीं है । अतः ऐसे सन्त के कथन से भी अशुद्ध मन में ज्ञान का समर्थन नहीं किया जा सकता ।

●

ॐ

भजन-ध्यान-भक्ति का फल

सर्वहित या स्वहित ?

भजन-ध्यान-भक्ति का फल सर्वहित है या स्वहित है ? इस बात को लेकर दो भक्तों में मतभेद हो गया। दोनों में से किसका मत विचारयुक्त तथा शास्त्रसम्मत है ? इसका निर्णय कराने के लिये वे दोनों भक्त एक साधु के पास गये। साधु भजन-ध्यान-भक्ति में निष्ठावान् एवं भक्तिशास्त्रों के विद्वान् थे। साधु ने उन दोनों भक्तों से कहा कि आप दोनों अपने-अपने विचारों को प्रकट कीजये। उसे सुनकर हम यथामति उत्तर देंगे।

सर्वहितवादी भक्त ने कहा—भजन-ध्यान-भक्ति जब स्वहित को ही लक्ष्य बनाकर की जाती है तो स्वार्थभाव नहीं मिटता, व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता। इन दोनों के नष्ट हुए बिना भक्त का कल्याण नहीं होता। इसलिये भजन-ध्यान-भक्ति सर्वहित के लिये ही करनी चाहिये, स्वहित के लिये नहीं करनी चाहिये।

साधु ने कहा—प्रह्लादजी के भजन-ध्यान-भक्ति से परवश हो भगवान् ने नरसिंहरूप धारण किया। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि प्रह्लादजी की भक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। उनकी भक्ति परिपूर्ण थी। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना भी

की कि हे प्रभो ! मैं इन दुःखी जीवों को छोड़कर अकेले मुक्त नहीं होना चाहता।—

'नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको'

(भाग० ७।९।४४)

सिद्ध भक्त प्रह्लाद के द्वारा ऐसी प्रार्थना करने पर भी सर्व-समर्थ भगवान् ने सर्व जीवों को मुक्त नहीं किया। यदि सर्वजीवों को मुक्त कर दिया होता तो हम सब बन्धन में क्यों पड़े रहते ? इससे यह अतिस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि प्रह्लाद जैसे सिद्ध भक्त की भक्ति से भी सर्वजीवों का हित नहीं होता। ऐसी दशा में क्या आप ऐसी आशा रखते हैं कि हम प्रह्लादजी से भी उच्चकोटि की भक्ति करके सर्वजीवों का हित कर देंगे ?

सर्वहितवादी भक्त ने कहा—'प्रह्लादजी से भी उच्चकोटि की भक्ति मैं करूँगा' ऐसी तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।'

साधु ने कहा—ऐसी दशा में आप स्वयं विचार करें कि 'भक्ति का फल सर्वहित है' ऐसा आपका मानना कहाँ तक विचारयुक्त है। सच्ची बात तो यह है कि 'भक्ति का फल सर्वहित है' ऐसा यदि माना जाय तो यही कहना होगा कि 'इस अनादि संसार में अभी तक किसीकी भी भक्ति सफल नहीं हुई।'

भक्ति का फल सर्वहित मानने में आपने तर्क दिया कि इसके बिना 'स्वार्थभाव नहीं मिटता, व्यक्तित्व नहीं नष्ट होता। इन दोनों के नष्ट हुए बिना भक्ति का कल्याण नहीं होता।'

आपके इस वचन पर गम्भीरता से विचार करने से भी यही सिद्ध होता है कि 'सर्वहित का भाव स्वार्थनाश तथा व्यक्तित्व-नाशपूर्वक भक्त का कल्याण करता है।' इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वहित का भाव साधन है और भक्त का कल्याण साध्य है। ऐसा होने पर भी 'भक्ति का फल सर्वहित है' ऐसी रटन लगाने से तो अपने शब्दों का अर्थ समझने में भी आप असमर्थ हैं, यही सिद्ध करता है। गीता ५।२५ और १२।४ में **'सर्वभूतहिते रताः'** पद साधन के अर्थ में ही आया है। साध्य तो वहाँ ही क्रमशः **'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं' 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** को ही बताया है। जिससे स्वहित ही फल सिद्ध होता है।

ऊपर किये गये विचार से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि 'भक्ति का फल सर्वहित है' ऐसा मानना भागवत तथा गीताशास्त्र के विरुद्ध है। अनुभवविरुद्ध तथा असम्भव है। इतना ही नहीं, किन्तु आपके वचन के तात्पर्य से भी विरुद्ध है।

सर्वहितवादी ने कहा—यदि ऐसा ही है तो 'विश्व का कल्याण हो' ऐसा नारा सन्त क्यों लगाते-लगवाते हैं?' 'सब सुखी हों, सब रोगरहित हों, सब कल्याण का दर्शन करें, कोई दुःखभागी न हो' ऐसी प्रार्थना ऋषि लोग क्यों करते-कराते हैं?

साधु ने कहा—सन्तों के नारों से तथा ऋषियों की प्रार्थना से भी 'विश्व का कल्याण हो गया क्या? सब सुखी-नीरोग-कल्याण-भागी-दुःखरहित हो गये क्या? या कभी हो जायँगे? ऐसा संभव

है क्या?' इन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' इस प्रकार नहीं दिया जा सका और न दिया जा सकेगा। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सन्त के नारों का तथा ऋषियों की प्रार्थना का तात्पर्य हृदय को अति-उदार बनाने में ही है, सर्वहित में नहीं।

स्वहितवादी ने कहा—प्रह्लाद, नारद आदि की परिपूर्ण भक्ति से भी सर्व का हित न होने के कारण तथा गीता के वचनों पर विचार करने से भी यही मुझे प्रतीत होता है कि भक्ति का फल स्वहित ही है। देखिये—

गीता १८।६४ में भगवान् अर्जुन से कहते हैं, 'तू मेरा अतिशय प्रिय है, इसलिये तेरे परम हित की बात कहता हूँ।'—

'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्'

(गीता १८।६४)

इस श्लोक में भगवान् 'ते' (साधक) के हित की ही प्रतिज्ञा करते हैं, 'सर्वहित' की प्रतिज्ञा नहीं करते। प्रतिज्ञा करने के बाद साधन बताते हैं—'मेरे में मन लगानेवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा करो, मेरे को नमस्कार करो।'—

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'

(गीता १८।६५)

इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये सब भक्ति के साधन 'ते' (साधक) के ही हित करने के लिये भगवान् ने बताये हैं। आगे भी **'मामेवैष्यसि'** अर्थात् 'तू मेरे को प्राप्त होगा।' इस प्रकार

साधक को ही अपनी प्राप्तिरूप हित की बात फलरूप में बताते हैं। 'सर्वहित' हो जायगा ऐसा फल नहीं बताते।

इस प्रकार गीता के वचनों पर विचार करके मैं यही मानता हूँ कि 'भक्ति का फल स्वहित ही है।'

साधु ने कहा—आपका कथन ही शास्त्रसम्मत, विचारयुक्त, सम्भव होने योग्य तथा अनुभवयुक्त होने से ठीक है। मैं भी 'भक्ति का फल स्वहित ही मानता हूँ, सर्वहित नहीं मानता।' भक्ति का ही नहीं, किन्तु कल्याण-प्राप्ति के जितने साधन शास्त्रों में बताये गये हैं, उनसे साधन करनेवाले का ही हित होता है, सर्व का हित नहीं होता। जैमिनि ऋषि ने मीमांसासूत्र में स्पष्ट कहा है कि **'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि'** (जैमिनिसूत्र ३।७।८) अर्थात् शास्त्र का फल प्रयोक्ता=साधनकर्ता को ही मिलता है।

महाभारत में भी कहा है—

'नान्यस्तदश्नाति···स एव कर्ता'

(उद्योगपर्व १२३।२२)

'तत् कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र हि'

(शान्तिपर्व १५३।४१)

अर्थात् 'दूसरा कोई फल नहीं प्राप्त करता, वह कर्ता ही (फल पाता है)' 'वह कर्ता ही फल पाता है, इसमें बन्धुओं का क्या ?'

ॐ

जड़ में क्रिया स्वतः या परतः ?

स्वतः—गीताजी में कहा है कि 'सम्पूर्ण कर्म प्रकृति (जड़-तत्त्व) के गुणों द्वारा किये हुए हैं'। (गीता ३।२७ तथा १३।२९)—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

(गीता ३।२७)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

(गीता १३।२९)

गीताजी के इन वचनों से स्पष्ट है कि जड़ प्रकृतितत्त्व में ही स्वतः ही सभी क्रियायें होती हैं, अर्थात् क्रिया जड़ के अतिरिक्त चेतनआत्मा या परमात्मा में होती ही नहीं। चेतनतत्त्व तो सर्वथा क्रियारहित = निष्क्रिय होने के कारण प्रकृति से क्रिया करवा भी नहीं सकता, इसलिये भी जड़ प्रकृति में ही **स्वतः** ही **सभी** क्रियायें होती हैं, ऐसा मानना ही युक्तियुक्त भी है।

प्रत्यक्ष दृष्टान्त से भी यही सिद्ध होता है। देखिये—**भोजन स्वतः** ही पचता है। इसमें पुरुष को कुछ भी नहीं करना पड़ता। मुर्दा **स्वतः** ही सड़ता है, किसीको कुछ भी नहीं करना पड़ता। इस प्रकार गीता के वचन से, युक्ति तथा प्रत्यक्ष दृष्टान्त से भी यही सिद्ध होता है कि **जड़ में ही स्वतः ही सभी क्रियायें होती हैं, चेतन में नहीं।**

परतः—गीताजी में ही कहा है कि—'प्रकृति (जड़तत्त्व) को स्वीकार करके मैं (चेतनपरमात्मा) ही बारम्बार रचना करता हूँ' (गीता ९।८) 'मुझ (चेतनपरमात्मा) अधिष्ठाता द्वारा ही जड़प्रकृति सचराचर की रचना करती है।' (गीता ९।१०)—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

(गीता ९।८)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

(गीता ९।१०)

गीताजी के ही इन वचनों से स्पष्ट सिद्ध है कि जड़प्रकृति-तत्त्व में स्वतः क्रिया नहीं होती, चेतनपरमात्मा द्वारा परतः ही होती है। गीताजी के वचनों में पूर्वापर विरोध न हो इसके लिये गीता के ऊपर लिखे ३।२७ तथा १३।२९ का तात्पर्य भी यही मानना चाहिये कि 'चेतन की प्रेरणा से ही प्रकृति सर्व कर्मों को करती है।'

यदि चेतनईश्वर की अध्यक्षता के बिना ही जड़प्रकृति सचराचर व्यवस्थित जगत् की रचना कर दे तो ईश्वरतत्त्व की सिद्धि ही न हो सकेगी। किसी प्राणी को कहाँ, किस योनि में उत्पन्न करना है, सुख-दुःख का कितना भोग कराना है? यह सब ज्ञान-पूर्वक होनेवाले कार्य जड़प्रकृति से सम्भव ही नहीं। इसीलिये ब्रह्मसूत्र में कहा है कि 'व्यवस्थित जगत् की रचना जड़प्रकृति से उपपन्न न होने के कारण अनुमानसिद्ध जड़प्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकती—

'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।'

(२।१।१)

ईक्षण (सङ्कल्प) पूर्वक जगत् की रचना का कथन श्रुति में किया है। जड़प्रकृति में ईक्षण का सामर्थ्य न होने से भी शब्द (शास्त्र) प्रमाण असिद्ध स्वतन्त्रप्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकती—

'ईक्षतेर्नाशब्दम् ।'

(ब्रह्मसूत्र १।१।५)

इस प्रकार गीता से तथा ब्रह्मसूत्रकथित युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि जड़प्रकृतितत्त्व में परतः ही क्रिया होती है, स्वतः नहीं।

'भोजन स्वतः पचता है', 'मुर्दा स्वतः सड़ता है' ये दोनों दृष्टान्त भी ठीक नहीं। क्योंकि भोजन यदि स्वतः ही पचता होता तो कभी अपच नहीं होता। भोजन को तो वैश्वानर अर्थात् जठराग्निरूप धारण कर परमात्मा ही पचाता है ऐसा गीता १५।१४ में स्पष्ट कहा है।—

अहं वैश्वानरो भूत्वा ... पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।

(गीता १५।१४)

मुर्दा भी स्वतः नहीं सड़ता, सूर्य या अग्नि का ताप ही मुर्दे को सड़ाता है। यही कारण है कि गरम स्थान में रखा मुर्दा जल्दी सड़ता है और शीतल स्थान में रखा मुर्दा जल्दी नहीं सड़ता।

सूर्य तथा अग्नि की तपाने की शक्ति मुख्यतः परमात्मा की शक्ति है। यही कारण है कि उस शक्ति को न देने पर अग्नि एक तृण को भी न जला सका, ऐसी कथा केनोपनिषद् में आती है। कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है कि—'इसी चेतनपरमात्मा के भय से अग्नि तथा सूर्य तपता है।'—

भयादस्याऽग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।

(कठो० २।३।३)

भीषोदेति सूर्यः········भीषास्मादग्निश्च ॥

(तैत्ति० ब्रह्म० ८।१)

इस प्रकार गीता तथा उपनिषद् के प्रमाण से सिद्ध हो जाता है कि 'भोजन स्वतः नहीं पचता', 'मुर्दा स्वतः नहीं सड़ता।' अतः कहीं भी जड़ में स्वतः क्रिया नहीं होती, सर्वत्र चेतनपरमात्मा द्वारा परतः ही होती है।

'क्रिया जड़ में ही होती है, चेतन में होती ही नहीं, क्योंकि वह सर्वथा निष्क्रिय है' यह कथन भी ठीक नहीं। भागकर गजराज को बचाया, गोवर्धन उठाया। ये भागने, उठाने की क्रियायें तो चेतन-परमात्मा में ही हुई हैं। यदि कहें कि ये क्रियायें साकार चेतन-परमात्मा के जड़ शरीर में ही हुई हैं, निराकार चेतनतत्त्व में नहीं हुईं। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि साकार चेतनपरमात्मा का शरीर भी जड़ नहीं होता, चेतन ही होता है।—

चिदानन्द मय देह तुम्हारी।
बिगत बिकार जान अधिकारी ॥

(राम० मा० २।१२६।५)

त्वन्नामस्मरतां राम सदाभासि चिदात्मकः।

(अध्यात्मरामायण ६।१३।७)

यदि कहा जाय कि साकार चेतनपरमात्मा में क्रिया भले ही हो निराकार चेतनपरमात्मा में तो क्रिया नहीं ही है। साकार और निराकार ईश्वर दोनों भिन्न नहीं, एक ही हैं, इसलिये आपका कथन ठीक नहीं। दूसरी बात यह है कि गीताजी में कहा है कि—'मैंने ही चारों वर्णों की रचना की है'—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'

(गीता ४।१३)

श्रुति में भी कहा है कि—'वह हाथ-पाँव से रहित होकर भी तेजी से चलनेवाला तथा पकड़नेवाला है। नेत्रहीन होकर भी देखता है, कान रहित होने पर भी सुनता है।'—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

(श्वेता० ३।१९)

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥

आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा।
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥

(रामचरितमानस १।११७।५-६-७)

इन शास्त्रों के वचनों में हाथ-पाँव रहित निराकार चेतन ईश्वर में 'रचना-चलना-पकड़ना' आदि क्रियाओं का कथन अति स्पष्ट शब्दों से किया गया है। श्रुति ने तो अति स्पष्ट शब्दों से यह भी कहा है कि 'उसकी पराशक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है और वह स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया तथा बलक्रियायुक्त है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

(श्वेता० ६।८)

इस श्रुति में 'स्वाभाविकी' विशेषण देने से यह अतिस्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानक्रिया तथा बलक्रिया औपाधिकी नहीं है। इन शास्त्रप्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि चेतन को सर्वथा निष्क्रिय कहना शास्त्रसम्मत नहीं है।

शङ्का—श्वेताश्वतरोपनिषद् में ही चेतनपरमात्मा को 'निष्कलं निष्क्रियं' (६।१९) निष्क्रिय भी कहा है। इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—शास्त्रों में चेतनपरमात्मा को सगुण-निर्गुण दोनों ही कहा है। इसका तात्पर्य बताते हुए पद्मपुराण में कहा है कि

'शास्त्रों में जो जगदीश्वर को निर्गुण कहा है, वह प्राकृत सत्त्वादि-गुणों से रहित होने के कारण कहा है।—

योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः।
प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणहीनत्वमुच्यते॥

(पद्मपु० ६।२२७।४-४१)

इसी प्रकार चेतनपरमात्मा को निष्क्रिय कहने का तात्पर्य भी प्राकृत (लौकिक) क्रियाओं से रहित बताने में ही है, सर्वथा निष्क्रिय बताने में तात्पर्य नहीं। इसीलिये तुलसीदासजी ने भी कहा—

'अस सब भाँति अलौकिक करनी।'

यदि चेतनपरमात्मा में अप्राकृत क्रियायें भी न मानी जायँ तो अवतार की लीलायें भी न हो सकेंगी। अतः विरोध-परिहार के लिये प्राकृत क्रियाओं का अभाव और अप्राकृत क्रियाओं का सद्भाव मानने में ही तात्पर्य जानना चाहिये।

शास्त्रप्रमाणयुक्त इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि 'जो लोग जड़ में स्वतः क्रिया मानते हैं तथा चेतन में किसी प्रकार की भी क्रिया नहीं मानते, उनका मत शास्त्रसम्मत नहीं।'

ॐ

प्रभु-सम्बन्धमात्र से कल्याण

भगवान् के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लेने मात्र से ही जीव का कल्याण हो जाता है, इस विषय में एक साधक की एक एकान्तवासी अप्रसिद्ध सन्त से जो चर्चा हुई है, उसे ही साधकों के लिये उपयोगी जानकर लिखा जा रहा है ।

साधक ने कहा—एक अतिप्रसिद्ध व्याख्यानदाता अपने प्रवचन में अतिदृढ़ता से कहते हैं कि यदि जीव भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध मान ले, तो इतने मात्र से ही उसका भगवान् में राग और संसार से वैराग्य होकर कल्याण हो जायगा । अन्य किसी साधन की आवश्यकता ही नहीं और न किसी अभ्यास की ही आवश्यकता है । इसलिये भगवान् से अपना सम्बन्ध मान लो ।

इस बात को स्पष्ट समझाने के लिये कन्या का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि देखो—एक कन्या है, जो १२-१६-२० वर्ष तक अपने माता-पिता के ही साथ रहती है, किन्तु जिस दिन किसी पुरुष के साथ पतिरूप में सम्बन्ध मान लेती है, उसी दिन उस कन्या का उस पुरुष में राग और माता-पिता का त्याग हो जाता है । इसके लिये कन्या सम्बन्ध मान लेने के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं करती । 'मेरा यह पति है, मेरा यह पति है' ऐसा अभ्यास भी नहीं करती ।

व्याख्यानदाता का उदाहरण मुझे बहुत ही ठीक लगा । इसलिये मैंने प्रभु से सम्बन्ध मान लिया । इतना ही नहीं, किन्तु यथाशक्ति ४-६ घण्टे भजन-ध्यान तथा भगवान् के गुणों का गान भी करता हूँ । ऐसा करते हुए मुझे ३० वर्ष हो गये, फिर भी न तो भगवान् में पूरा राग हुआ और न संसार से पूरा वैराग्य ही हुआ, कल्याण होने की बात तो बहुत दूर रही । अतः मुझे शङ्का होती है कि प्रभु-सम्बन्धमात्र से कल्याण हो जाता है क्या ? हो जाता है तो मेरा क्यों नहीं हुआ ?

सन्त ने कहा—एक कन्या है, जिसका एक पुरुष के साथ अनेक वर्षों से सुदृढ़ गुप्तराग है । उसके माता-पिता किसी अन्यपुरुष से सम्बन्ध कर देते हैं, तो उस कन्या का उस अन्यपुरुष के साथ राग हो जायगा क्या ?

साधक ने कहा—उस कन्या का तो उस अन्यपुरुष से राग नहीं होगा ।

सन्त ने कहा—हम लोग भी उसी कन्या के समान हैं । क्योंकि हम लोगों का अनादिकाल से सुदृढ़राग संसार में है । शास्त्र तथा सन्त भगवान् से सम्बन्ध कराते हैं, परन्तु संसार से सुदृढ़ सम्बन्ध पहले से ही होने के कारण भगवान् से सम्बन्ध सुदृढ़ होता नहीं । यही कारण है कि उन व्याख्यानदाता से भी जब कोई यह पूछता है कि भगवान् से सुदृढ़ सम्बन्ध चाहते हुए भी क्यों नहीं होता ? तो वे भी यही उत्तर देते हैं कि अरे ! तुम संसार से सम्बन्ध नहीं छोड़ते, इसलिये भगवान् से सुदृढ़ सम्बन्ध नहीं होता । उनके इस

उत्तर से तो यही सिद्ध होता है कि 'संसार से सम्बन्ध तोड़ना भी आवश्यक है। इसके लिये साधन करना ही होगा, अतः 'अन्य साधन की आवश्यकता ही नहीं' ऐसा कहना ठीक नहीं।

'यह मेरा पति है, यह मेरा पति है' इस प्रकार रटने का अभ्यास कन्या नहीं करती, यह ठीक है, फिर भी उसने अभ्यास तो किया ही है। उस कन्या ने बाल्यावस्था से ही अपने देश-ग्राम-पड़ोस तथा परिवार में सुना-देखा कि माता-पिता जिस पुरुष के साथ कन्या का सम्बन्ध कर देते हैं, वही उसका पति होता है। इस प्रकार हजारों बार सुनने-देखने के रूप में कन्या ने अभ्यास किया ही है। यही कारण है कि विदेशो कन्याओं के हृदय में 'यही मेरा पति है' ऐसा सुदृढ़भाव नहीं बनता। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि अभ्यास की भी आवश्यकता है। अतः 'अभ्यास की आवश्यकता नहीं' ऐसा कहना भी ठीक नहीं।

देखो भैया! यह आपकी पत्नी बैठी है। आपके साथ पति-रूप में सम्बन्ध वाणी से ही नहीं किन्तु हृदय से मानती है। ऐसा होने पर भी यदि यह आपकी सेवा न करे, आपकी आज्ञा के प्रतिकूल आचरण करे तो पतिरूप में सम्बन्ध मानने मात्र से इसका कल्याण हो जायगा क्या?

साधक ने कहा—कभी भी कल्याण नहीं होगा।

सन्त ने कहा—इसी प्रकार जो भगवान् से अपना सम्बन्ध तो मानते हैं, किन्तु भगवान् की आज्ञारूप वेदशास्त्र में कथित भजन-ध्यान, सादा जीवन, सात्त्विक खान-पान, सदाचार-शौचाचार-शिष्टा-

चार आदि का पालन नहीं करते, इसके विपरीत मद्य-मांस का सेवन करते हैं, व्यभिचार-बलात्कार-भ्रष्टाचार आदि करते हैं। ऐसे लोगों का भगवान् से सम्बन्ध मानने के कारण कल्याण हो जायगा क्या?

साधक ने कहा—कभी भी कल्याण नहीं होगा।

सन्त ने कहा—आपके उत्तरों से ही यह सिद्ध हो जाता है कि 'भगवान् से सम्बन्ध मानने मात्र से कल्याण नहीं होगा।' कल्याण के लिये साथ में भजन-ध्यान आदि साधन भी करना पड़ेगा। ऐसा ही शास्त्रों ने भी कहा है। भागवत आदि ग्रन्थों को पढ़कर देखो तो स्पष्ट पता लग जायगा कि परमभक्त नारद-ध्रुव-प्रह्लाद-अम्ब-रीष आदि का कल्याण भी अनेक जन्मों तक भजन-ध्यान आदि साधन करने पर ही हुआ था, प्रभु से सम्बन्ध मान लेने मात्र से नहीं हुआ था।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रसिद्ध व्याख्यान-दाता का यह कथन कि 'प्रभु से सम्बन्ध मान लेने मात्र से कल्याण हो जाता है, अन्य किसी साधन की या अभ्यास की आवश्यकता नहीं है' शास्त्र-अनुभव तथा युक्ति-विरुद्ध है।

ॐ

करणनिरपेक्ष साधन होता है या नहीं ?

करणनिरपेक्ष भी साधन होता है—श्री गीताजी में कहा है—'जहाँ आत्मा से आत्मा को आत्मा में देखता हुआ सन्तुष्ट होता है' (गीता ६।२०)—

'यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति'

गीताजी के इस वचन में किसी करण की चर्चा ही नहीं है, इससे सिद्ध हो जाता है कि करणनिरपेक्ष भी साधन होता है। नर-नारी अपने नामों को तथा पति-पत्नी आदि सम्बन्धों को करण-निरपेक्ष ही स्वयं से स्वीकार करते हैं। इस उदाहरण से भी करण-निरपेक्ष भी साधना होती है, यह सिद्ध होता है। चेतनतत्त्व स्वयं-प्रकाश्य है, अतः चेतनतत्त्व को करण की अपेक्षा कैसे हो सकती है ? इसलिये 'चेतनतत्त्व करणनिरपेक्ष है' ऐसा मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूँ।

करणनिरपेक्ष साधन होता ही नहीं—करणनिरपेक्ष साधन होने में जो गीताजी के ६।२० श्लोक का प्रमाण दिया गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि टीकाकारों ने 'आत्मना' इस पद का 'सूक्ष्मशुद्ध-बुद्धि से' ऐसा ही अर्थ किया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि यहाँ भी 'बुद्धि' रूप करण है। वहीं अगले ही ६।२१ के श्लोक में **'बुद्धि-**

ग्राह्यम्' स्पष्ट कहा भी है। श्रुतियों में भी **'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया'**, **'मनसैवानुदृष्टव्यम्'** आदि वचनों द्वारा शुद्ध 'मन = बुद्धि' रूप करण की बात स्पष्ट कही है। **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इस श्रुति में जो मन की करणता का निषेध है, वह तो अशुद्धमन को लेकर ही है। ऐसा तात्पर्य न मानने पर श्रुतियों में विरोध हो जायगा। इसलिये भाष्यकारों ने ऐसा ही अर्थ किया है।

गीताजी के अठारहवें अध्याय में श्लोक १४-१५ में स्पष्ट कहा है कि शरीर-वाणी-मन से होनेवाले न्याययुक्त (शास्त्रविहित) तथा न्यायरहित (शास्त्रनिषिद्ध) सभी कर्म अधिष्ठान-कर्ता-करण-चेष्टा-दैव, इन पाँच से होते हैं।—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता १८।१४-१५)

इस प्रकार गीता ६।२० की टीकाओं से, गीता ६।२१ और १८।१४-१५ के मूल वचनों से तथा श्रुतिवचनों से यही सिद्ध होता है कि करणनिरपेक्ष साधन होता ही नहीं।

गहरी निद्रा में सोते हुए तथा मूर्च्छित हुए नर-नारी नाम या पति-पत्नी आदि सम्बन्धों को ग्रहण कराने पर भी अन्तःकरण न

होने के कारण ही ग्रहण नहीं कर पाते। जाग्रत अवस्था में अन्तः-करण होने पर ही ग्रहण कर पाते हैं। इस अन्वय-व्यतिरेक से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि नाम या सम्बन्धों का ग्रहण भी करणनिरपेक्ष नहीं, करणसापेक्ष ही है। अतः उदाहरण भी ठीक नहीं।

'चेतनतत्त्व स्वयंप्रकाश है, अतः करणनिरपेक्ष है' ऐसा कहना तो सर्वथा ठीक ही है, परन्तु 'साधन करणनिरपेक्ष होता है' ऐसा कहना तो ऊपर लिखे गीता तथा श्रुतियों के वचनों से विरुद्ध होने के कारण ठीक नहीं।

ॐ

क्या शुभकर्म से कष्टों का नाश होता है ?

शङ्का—महाभारत में कहा है कि—'मारा हुआ धर्म ही मार डालता है, रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है। मनु महाराज ने भी ऐसा ही कहा है।—

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'

(महा०, वन० ३१३।१२८), (मनु० ८।१५)

इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जो मानव शुभकर्मरूप धर्म का अनुष्ठान नहीं करते वे कष्ट पाते हैं, और जो शुभकर्मरूप धर्म का अनुष्ठान करते हैं उनकी कष्टों से रक्षा होती है, अर्थात् उनके कष्टों का नाश होता है। परन्तु हम और हमारे अनेक मित्र तथा परिचित व्यक्ति ऐसे हैं, जो शुभकर्म का अनुष्ठान करने पर भी कष्ट पा रहे हैं। इसके विपरीत हमारे परिचित अनेक व्यक्ति ऐसे हैं कि वे शुभकर्म न करने पर भी कष्टरहित हैं। इसलिये सन्देह होता है कि 'शुभकर्म से कष्टों का नाश होता है' क्या यह शास्त्रवचन सत्य है ?

कलियुगी हम जैसे जीवों के हृदय में ही नहीं, किन्तु सतयुगी जीवों ने भी जब धर्मात्माओं को कष्टयुक्त तथा अधर्मात्माओं को कष्टमुक्त देखा तो उन्हें भी ऐसा ही सन्देह हुआ, ऐसा पुराणों में

वर्णन आता है। यही कारण है कि महाभारत के जिस वनपर्व में ऊपर लिखी बात कही है, उसी महाभारत के उसी वनपर्व में तथा शान्तिपर्व और नारदपुराण के पूर्वार्धं में भी ऊपर लिखी बात से विपरीत बात भी कही है। देखिये—

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणा सर्वकर्मभिः॥
अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः॥
भूतानामपरः कश्चिद् हिंसायां सततोत्थितः।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते॥
अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठति।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति॥

(महाभारत, वनपर्व २०९।९ से ११/शान्तिपर्व ३३१।१० से १३),
(नारदपु०, पूर्वार्धं, ६१।२२ से २५)

अर्थ—संयमी, दक्ष, बुद्धिमान् मानव भी फलहीन तथा सभी कर्मों से रहित देखे जाते हैं। दूसरे मूर्ख, निर्गुण, अधमपुरुष सन्तों के आशीर्वाद से रहित होने पर भी सभी कामनाओं से युक्त देखे जाते हैं। अन्य कुछ लोग जो प्राणियों की हिंसा में ही सदा लगे रहते हैं तथा लोगों को ठगते रहते हैं, वे सुख से ही बूढ़े होते हैं। कुछ भी न करनेवाले, बैठे रहनेवाले के पास भी लक्ष्मी उपस्थित

होती है। कोई कर्म का अनुसरण करके भी उचित धन नहीं प्राप्त कर पाते।

महाभारत और नारदपुराण के इन वचनों से भी मेरी शङ्का की पुष्टि होती है। अतः कृपया बताने की कृपा करें कि शुभकर्मों से कष्टों का नाश होता है या नहीं? यदि होता है तो हमारे तथा हमारे धर्मात्मा मित्रों और परिचितों के कष्टों का नाश क्यों नहीं होता? महाभारत तथा नारदपुराण के ऊपर लिखे वचनों का क्या तात्पर्य है?

समाधान—आपकी शङ्का का सम्यक् समाधान ध्यानपूर्वक नीचे लिखे शास्त्रवचनों के अध्ययन से हो जायगा, इसलिये उन्हें ही लिख रहा हूँ।—

इह जन्मकृतं कर्म परजन्मनि पच्यते।
परजन्मकृतं कर्म भोक्तव्यं तु सदा नरैः॥

(भविष्यपुराण ।२।२४।३६)

नहि लोके कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव।

अर्थ—इस जन्म में किये गये कर्म का फल (प्रायः) दूसरे जन्म में मिलता है। दूसरे जन्म में किये गये कर्म ही सदा मनुष्यों द्वारा भोगे जाते हैं। इस लोक में किये गये कर्म गौ की तरह तत्काल फल नहीं देते।

इन शास्त्रवचनों से अतिस्पष्ट हो जाता है कि आपको, आपके धर्मात्मामित्रों तथा परिचितों को जो कष्ट भोगना पड़ रहा है, वह तो दूसरे जन्म में किये गये कुकर्मरूप अधर्म का फल है। इस

जन्म में जो सुकर्मरूप धर्म कर रहे हैं, उसका फल कष्टनाश (सुख) दूसरे जन्म में अवश्य मिलेगा। अतः सन्ताप नहीं करना चाहिये। यह बात अतिस्पष्ट शब्दों में पद्मपुराण और स्कन्दपुराण में कही है।—

पुण्यमाचरतः पुंसो यदि दुःखं प्रजायते।
तदा तापो न कर्तव्यः तत्कर्मपूर्वदेहजम्॥

(पद्मपु० ६।१३१।११४-११५)

दुर्गमामापदां प्राप्य निजकर्मसमुद्भवाम्।
नहि सञ्ज्वरन्ति मर्त्या धर्मनिन्दां न कुर्वते।
इदमेव तपो मत्वा क्षिपन्ति सुविचेतसः॥

(५।३।१९८।३८-३९)

अर्थ—पुण्य का आचरण करते हुए भी यदि पुरुष को दुःख प्राप्त हो तो सन्ताप नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह दुःख पूर्वदेह में किये गये कर्म का फल है। (इस रहस्य को जाननेवाले मानव) अपने पूर्वकर्म से उत्पन्न दुर्गम आपत्ति को प्राप्त करके जलते नहीं तथा धर्म की निन्दा भी नहीं करते। इसे तप मानकर सुन्दर चित्तवाले सहन करते हैं।

कर्म का फल प्रायः दूसरे जन्म में होता है, ऐसा जो ऊपर भविष्यपुराण के श्लोक में कहा है, यह नियम अतिउग्र पाप-पुण्यरूप कर्मों को छोड़कर ही है, ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि अति-उग्र पाप-पुण्यरूप कर्मों का फल इसी जन्म में भोगा जाता है—

अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते।
अत्युत्कटैरिहत्यैस्तु पुण्यपापैः शरीरभृत्।
प्रारब्धकर्म विच्छिद्य भुङ्क्ते तत्फलं बुधः॥

ऊपर लिखे महाभारत तथा नारदपुराण के वचनों का तात्पर्य भी 'पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के फल की प्राप्ति में मानव ईश्वर के पराधीन है' यह बात बताने में ही है, क्योंकि वहीं दोनों ग्रन्थों में उन श्लोकों के पहले श्लोक में अतिस्पष्ट शब्दों में कहा है कि मानव यदि क्रिया के फल की प्राप्ति में पराधीन न होता, तो जो चाहता उसे प्राप्त कर लेता—

योऽयमिच्छेत् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात्।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम्॥

(महाभारत, वनपर्व २०९।८ / शान्तिपर्व ३३१।९),

(नारदपुराण ६१।२१)

यदि शुभकर्म से कष्टों का तत्काल नाश न देखने के कारण सन्देह किया जाय तो व्यापार, खेती, चिकित्सा आदि लौकिक कर्मों पर भी सन्देह करना चाहिये, क्योंकि जन्मान्तरीय अशुभकर्मों के बाधक होने पर बहुत बार उनसे भी कष्टों का नाश नहीं होता। इसीलिये उन श्लोकों में दक्षता, बुद्धिमत्ता आदि का भी नाम लिया है।

भगवत्-कृपा का स्वरूप

भगवत्-कृपा का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक भक्तों ने अपने-अपने अनुभव के आधार पर जो कहा है, उसे पहले लिखकर बाद में सन्त का उत्तर लिखेंगे ।

अर्थार्थी भक्त—संसार में दरिद्रता के समान कोई दुःख नहीं । महाभारत में कहा है कि—'जिसे दरिद्रता कहते हैं, यह तो दूसरे शब्दों में मरण ही है। अतः पति-पुत्र के वध से भी इसे बड़ा दुःख कहा जाता है ।'—

पतिपुत्रवधादेतत् परमं दुःखमब्रवीत् ।
दारिद्र्यमिति यत्प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ॥

(उद्योगपर्व, १३४।१३)

रामायण में भी कहा है—

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं ॥

(७।१२०।१३)

इसीलिये भगवान् ने सुदामा को कृपा करके धन दिया था । अतः परमदुःखरूप दरिद्रता का नाश करनेवाले धन को देना यही भगवत्-कृपा का स्वरूप है, ऐसा मैं अपने अनुभव से कहता हूँ ।

आर्त भक्त—धन तो बहुत हो, किन्तु तन (शरीर) में महान्

कष्ट देनेवाले रोग हों और शत्रु नाना प्रकार के दुःख देते हों तो बहुत धनी भी महान् दुःखी होते हैं । धन देना ही भगवत्-कृपा का स्वरूप होता तो भगवान् ऐसा न कहते कि 'जिस पर मैं कृपा करता हूँ, उसका धन धीरे से हरण कर लेता हूँ ।'—

ब्रह्मन् ! यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।

(भाग० ८।२२।२४)

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।

(भाग० १०।८८।८)

इसलिये मेरे अनुभव से तो रोग तथा शत्रु आदि जन्य कष्टों का नाश करना ही भगवत्-कृपा का स्वरूप है । इसीलिये भगवान् ने कृपा करके प्रह्लाद के कष्टों का नाश किया था ।

विरक्त भक्त—धनी तथा रोगादिजन्य दुःखों से रहित मनुष्य भी परिवार में आसक्त होने पर बहुत दुःखी देखे जाते हैं । इसलिये मेरे अनुभव के अनुसार तो संसार से वैराग्य प्रदान करना ही भगवत्-कृपा का स्वरूप है । इसीलिये भागवत में कहा है—'निश्चित ही किसी कर्म से भगवान् विष्णु मुझ पर प्रसन्न हैं, जिससे मुझे दुराशा से वैराग्य हुआ, जो वैराग्य सुख देनेवाला है ।'—

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥

(भाग० ११।८।३७)

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥

(भाग० ११।२३।२८)

जिज्ञासु भक्त—वैराग्य होने पर भी यदि तत्त्वजिज्ञासा का उदय न हो तो वैराग्य व्यर्थ है, क्योंकि 'जीवन तो तत्त्वजिज्ञासा के लिये है' ऐसा भागवत में कहा है।—

'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा'

(भाग० १।२।१०)

इसलिये मेरे अनुभव से तत्त्वजिज्ञासा का उदय होना ही भगवत्-कृपा का स्वरूप है।

ज्ञानी भक्त—वैराग्य तथा जिज्ञासा होने पर भी यदि ज्ञान उत्पन्न न हो तो वैराग्य और जिज्ञासा दोनों ही वन्ध्या स्त्री के समान सम्मानयोग्य नहीं। अतः ज्ञानप्रदान करना ही भगवत्-कृपा का स्वरूप है, ऐसा मैं अनुभव से मानता हूँ। भगवान् ने भी गीता में कहा है कि—'उनके ऊपर कृपा करने के लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ अज्ञानजन्य अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञानरूप दीपक द्वारा नष्ट करता हूँ।'—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १०।११)

भगवत्-भक्त—ज्ञान हो जाने पर भी यदि भगवत्-भक्ति न हो तो ज्ञान अज्ञान के समान ही है, क्योंकि रामप्रेमरूपा भक्ति के बिना ज्ञान शोभनीय नहीं होता। ऐसा ही भगवत्-भक्त तुलसीदासजी ने कहा है—

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू ।
जहँ न राम प्रेम परधानू ॥
सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू ।
करनधार बिनु जिमि जल जानू ॥

भागवत में भी कहा है कि—'अच्युतभाव अर्थात् भगवत्-भक्ति के बिना निष्कामकर्म और निरञ्जनज्ञान की भी शोभा नहीं होती।'—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।

(भाग० १।५।१२ / १२।१२।५२)

इसलिये मेरे अनुभव से भक्ति की प्राप्ति ही भगवत्-कृपा का स्वरूप है।

सन्त भक्त—वैराग्य-जिज्ञासा-ज्ञान-भक्ति इन सबकी प्राप्ति सन्तों से ही होती है। इसलिये सन्त की प्राप्ति को ही मैं भगवत्-कृपा का स्वरूप मानता हूँ। सन्त तुलसीदासजी ने भी कहा है—

बिनु सतसंग विवेक न होई।
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सन्त विशुद्ध मिलहिं पुनि तेही।
रामकृपाकर चितवहिं जेही॥
अब भा मोहिं भरोस हनुमन्ता।
रामकृपा बिनु मिलहिं न सन्ता॥

निरभिमानी भक्त—किसी भी महान् गुण का यदि अभिमान हो जाय तो महान् अनर्थ होता है, क्योंकि अहंकार संसार की जड़ है।—

संसृतमूल शूलप्रद नाना।
सकल शोकदायक अभिमाना॥

इसलिये अभिमान का न होना ही भगवत्-कृपा का स्वरूप है। यह बात भागवत में भगवान् ने अपने मुख से कही है—'जन्म-कर्म-आयु-रूप-विद्या-ऐश्वर्य-धनादि से इसे अभिमान न हो तो यह मेरा अनुग्रह है।'—

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः॥
(भाग० ८।२२।२६)

ऊपर लिखे भक्तों के मतों को सुनकर एक शास्त्रतात्पर्यमर्मज्ञ

भक्तसन्त ने कहा कि 'भगवत्-कृपा का स्वरूप' अपने अनुभव के आधार पर आप लोगों ने बताया है, उसका समर्थन शास्त्रवचन तथा युक्ति से भी किया है। ये सब भगवत्-कृपा के स्वरूप किसी अंश में हमें भी मान्य हैं। परन्तु इन्हें ही भगवत्-कृपा का स्वरूप मानने पर यह प्रश्न होगा कि अमुक-अमुक को ही धन-वैराग्य-ज्ञान-भक्ति आदि भगवान् ने क्यों दिये? सबको क्यों नहीं दिये? बिना कारण ऐसा भेद करने पर भगवान् में विषमता का दोष आयेगा, जिसको किसी प्रकार भी दूर नहीं किया जा सकेगा। इसलिये भगवान् की कृपा का मुख्य स्वरूप तो यही है कि—'प्रेम-पूर्वक भजन-स्मरण-ध्यान-पूजन आदि सरल साधन से भी कल्याण होने का विधान बनाया।' देखिये, गीता में भगवान् ने कहा है—हे अर्जुन! अनन्यचित्तवाला जो मेरा नित्य निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिये मैं सुलभ हूँ। मेरे में मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा करो, मेरे को नमस्कार करो। इस प्रकार अपने को मेरे में लगाकर, मेरे आश्रित हुआ मेरे को प्राप्त हो जायेगा। प्रेमपूर्वक सदा भजन करनेवालों को मैं वह ज्ञान देता हूँ जिससे वे मेरे को प्राप्त हो जाते हैं। हे अर्जुन! मेरे में मन लगानेवालों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार से उद्धार कर देता हूँ।—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८।१४)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।

(गीता ९।३४)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

(गीता १०।१०)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।

(गीता १२।७)

ऊपर लिखे गीता के वचनों में जिन भजन-स्मरण आदि साधनों का विधान भगवान् ने किया है, उन्हें धन-मकान-परिजन आदि लौकिक साधनों से हीन नर-नारी भी कर सकते हैं। इस प्रकार सुलभ साधन द्वारा कल्याण का विधान बनाना ही भगवान् की कृपा का मुख्य स्वरूप है।

शङ्का—भगवान् भजन-ध्यान-पूजन आदि साधन करनेवालों का ही कल्याण करते हैं, न करनेवालों का नहीं करते। ऐसा करने पर क्या भगवान् में विषमता का दोष नहीं आता ?

समाधान—धूप में बैठनेवाले की ही सर्दी को सूर्यभगवान् दूर करते हैं, धूप में न बैठनेवाले की सर्दी दूर नहीं करते। इससे जैसे सूर्यभगवान् में विषमता-दोष नहीं आता, वैसे ही भजन आदि

करनेवालों का कल्याण करने से और भजन आदि न करनेवालों का कल्याण न करने से भगवान् में विषमता का दोष नहीं आता। विषमता का दोष तो तभी होगा जब भजन आदि करनेवालों में से किसीका कल्याण करें, किसीका कल्याण न करें। अथवा भजन आदि न करनेवालों में से भी किसीका कल्याण कर दें, किसीका न करें। नियमानुसार काम करनेवाले पर विषमता का दोष लगाना ठीक नहीं माना जाता।

जैसे कल्याण के लिये सुगम साधन का विधान बनाना भगवत्-कृपा का स्वरूप है, वैसे ही कल्याण में बाधक पापों का नाश करने के लिये लोक या परलोक (नरक) में दुःखभोग का विधान बनाना भी भगवत्-कृपा का स्वरूप है। इसे भी साधकों को अवश्य जानना चाहिये। इसे जाने बिना दुःखों के भोग में भगवत्-कृपा का दर्शन नहीं हो सकता। इसीलिये भागवत में प्रारब्ध भोगते हुए भगवत्-कृपा का समीक्षण (दर्शन) करने के लिये कहा है।—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

(भाग० १०।१४।८)

इस बात को इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे बालक को स्वास्थ्यवर्धक भोजन देना माता की कृपा का स्वरूप है, वैसे ही स्वास्थ्यनाशक ज्वर आदि में भोजन न देना या कष्टदायक कटु दवा खिलाना भी माता की कृपा का स्वरूप है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद पुरुषोत्तम ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

(ग्रन्थ समाप्त)

लेखक के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

१. सर्वदर्शन-समन्वय—साधन का कर्ता आत्मा, साधन-फलदाता ईश्वर, साधन द्वारा त्याज्य जगत्, साधनफल मोक्ष तथा साधन, इन सभी के स्वरूपों को जानना साधक के लिये अति-आवश्यक है। इनका निरूपण भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न रूप से ही नहीं, किन्तु परस्पर विरुद्ध रूप से भी किया है। उनका कहाँ तक, कैसे समन्वय हो सकता है, यह प्रदर्शन इस ग्रन्थ में किया है। सर्वदर्शनमर्मज्ञ तटस्थ विद्वानों के लिये यह ग्रन्थ विचारणीय तथा समालोचनीय है। यह ग्रन्थ तर्क को प्रधानता देकर लिखा गया है।

२. साधन-विचार—साधन करनेवाले साधकों के जीवन में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, नाना प्रकार की शङ्कायें पैदा होती हैं। शास्त्र का ज्ञान रखनेवालों को साधन से सम्बद्ध प्रकरणों एवं वचनों की सङ्गति जानने की भी इच्छा होती है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर 'साधन-विचार' नाम का ग्रन्थ लिखा गया। यह ग्रन्थ साधकों के लिये अति-उपयोगी है। यह ग्रन्थ साधन-अनुष्ठान और शास्त्रवचन दोनों को प्रधानता देकर लिखा गया है।

३. साधक-शङ्का-समाधान—जो लोग शास्त्रों में पूर्ण श्रद्धा रखते हैं, वे लोग जब शास्त्रों का मनोयोग से अध्ययन करते हैं तो उन्हें शास्त्रों में एक विषय पर अनेक प्रकार के वचन मिलते हैं।

इतना ही नहीं, किन्तु परस्पर विरुद्ध वचन भी मिलते हैं। तब उनके हृदय में शङ्का का उत्थान तथा समाधान की जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है। समाधान के बिना साधन के अनुष्ठान में निष्कम्प प्रवृत्ति न होगी। इसलिये शास्त्रवचन-सङ्गतिपूर्वक 'साधक-शङ्का-समाधान' नाम का ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ भी साधकों के लिये अति-उपयोगी है। यह ग्रन्थ शास्त्र को प्रधानता देकर लिखा गया है। यह ग्रन्थ दो भाग में है।

४. **वैदिकचर्या-विज्ञान**—वैदिक ऋषियों ने मोक्ष के साधन का ही नहीं, किन्तु जीवन के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का विधान इस रीति से किया है कि वे मोक्षसाधन में सहायक हो सकें। अतः दिनचर्या, जीवनचर्या तथा अन्य विविध चर्याओं का विधान भी शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, परिवारविज्ञान, समाजविज्ञान तथा लोक-परलोकविज्ञान आदि विविधविज्ञानों के आधार वैदिकशास्त्र-अनुसार किया है। अतः वैदिकचर्या साधन का प्रथम सोपान है, मूलाधार है। इसकी उपेक्षा करके कोई भी साधक मोक्षसाधन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। दुर्भाग्यवश वर्तमान में भौतिक-विज्ञान से प्रभावित होकर जनसाधारण ही नहीं, किन्तु साधक भी वैदिकचर्या की अवहेलना कर रहे हैं। अतः वैदिकचर्या की उपयोगिता भौतिकविज्ञान की दृष्टि से भी बताना अति-आवश्यक है, यह विचार करके 'वैदिकचर्या-विज्ञान' नाम का ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ सभी के लिये उपयोगी है।